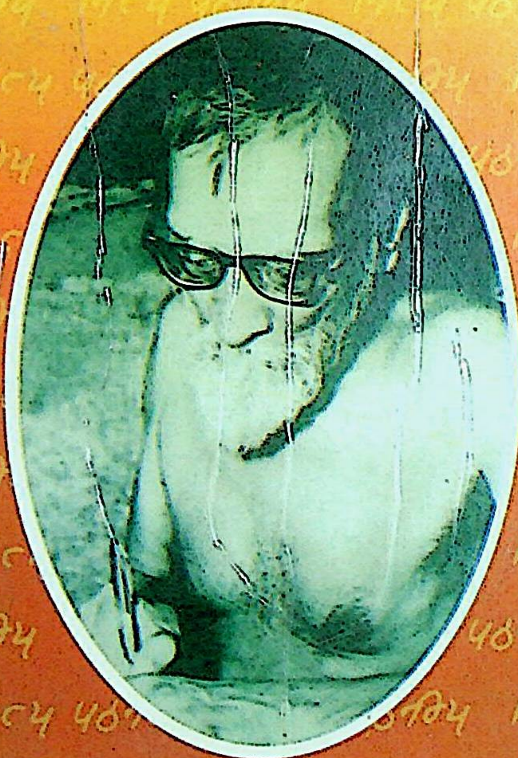


गीता-प्रवचन



विनोबा

गीता-प्रवचन

•

विनोबा

•



सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी- २२१००१

अनुवादक : हरिभाऊ उपाध्याय
प्रकाशक : सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१
स्वत्व : सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
संस्करण : उनसठवाँ, नवम्बर, २००६
प्रतियाँ : ६,०००, कुल प्रतियाँ ७,७८,०००
मूल्य : पचीस रुपये (रु० २५.००)
अक्षर संयोजन : ए.पी.एन. कम्प्यूटर्स, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-२२१ ०१०
मुद्रक : मित्तल ऑफसेट, सुन्दरपुर, वाराणसी-२२१ ०१०

विभिन्न भाषाओं में 'गीता-प्रवचन'

भाषा	संख्या (लाख में)
१. हिन्दी	७.७८
२. मराठी	३.६४
" (आर्या)	.००५
३. संस्कृत	.०१
४. कोंकणी	.०५
५. गुजराती	४.५८
" नागरी लिपि	१.००
" आर्या	.०२
६. सिंधी	.३०
" नागरी-लिपि	.०१
७. बंगला	.५०
" नागरी-लिपि	.०१
८. उडिया	.०३८
" नागरी-लिपि	.०२
९. पंजाबी	.१५
" नागरी-लिपि	.०२

भाषा	संख्या लाख में
१०. उर्दू	१.७०
" नागरी-लिपि	.०१
११. तेलुगु	.८३
" नागरी-लिपि	.०२
१२. तमिल	१.३५
१३. मलयालम	.४०
१४. कन्नड	१.१०
" नागरी-लिपि	.०२
१५. असमी	.६०
१६. बागड़ी	.०३
१७. मणिपुरी	.०१
१८. मैथिली	.०१
१९. अंग्रेजी (भारत)	.७७
" (इंग्लैण्ड)	.०३
२०. डेनिश	.०८
२१. नेपाली	.०३
२२. जर्मन	.०१

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोंका हिंदी-अनुवाद हिंदी बोलनेवालोंके लिए प्रकाशित हो रहा है, इससे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्यकर्ताओंके सामने दिये गिये हैं और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमें तात्त्विक विचारोंका आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसीं वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामोंकी बातोंका ही जिक्र किया गया है।

यहां श्लोकोंके अक्षरार्थकी चिंता नहीं, एक-एक अध्यायके सारका चिंतन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गांववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायेंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंसे वर्णन नहीं कर सकता। गीताका मुझपर अनंत उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूं और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ जैसा मैं समझा हूं, इन प्रवचनोंमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूं कि यह अनुवाद हरएक घरमें, जहां हिंदी बोली जाती है, पहुंचे और घर-घर में इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

परंधाम, पवनार
10-4-1947

विनोबा

प्रकाशकीय

'गीता-प्रवचन मेरी जीवन-गाथा है और वही मेरा सन्देश है।' पूज्य विनोबा ने प्रस्तुत ग्रंथ के सन्दर्भ में कहा था।

इस कालजयी रचना—गीता-प्रवचन—का एक इतिहास है। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भागीदारी के कारण सजा के तौर पर तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमत ने आचार्य विनोबा को धुलिया (महाराष्ट्र) जेल में डाल रखा था। बात सन् १९३२ की है। उसी अवधि में कार्यकर्ता-सह-कैदियों के निवेदन को स्वीकार कर विनोबा ने हर रविवार को 'गीता' के अठारहों अध्याय पर अपना गहन चिन्तन प्रकट करते हुए जो प्रवचन किये, उनको राष्ट्रभक्त साने गुरुजी ने लिपिबद्ध कर लिया। मूल मराठी भाषा में किये गये उन्हीं प्रवचनों की प्रसादी है गीता-प्रवचन।

गीता को मानव-आत्मा का अमर संगीत कहा गया है। उस गूढ़-गम्भीर शास्त्रीय संगीत को जन-सुलभ, जन-मंगलकारी रूप में प्रस्तुत करके आचार्य विनोबा ने मानव-समाज को एक अमूल्य निधि भेंट की है, जिससे मानव-मन को आरोहण की उत्प्रेरणा और दिशा पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिलती रहेगी।

गीता-प्रवचन की महत्ता, उपादेयता और लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है। अठारह भारतीय और चार विदेशी भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। आठ से अधिक भारतीय भाषाओं में तो इसके अनुवाद नागरी लिपि में भी प्रकाशित हैं। अब तक गीता-प्रवचन के प्रकाशित सभी संस्करणों की संख्या इक्कीस लाख से ऊपर पहुँच चुकी है, जो स्वयं में एक कीर्तिमान है।

आचार्य विनोबा के ही शब्दों में नित्य पठनीय इस अमूल्य ग्रंथ गीता-प्रवचन का यह नया संस्करण प्रकाशित करते हुए सर्व सेवा संघ-प्रकाशन धन्यता का अनुभव करता है। आशा है कार्यकर्ता, सेवक, साधक एवं प्रबुद्ध नागरिक इस ग्रंथ को, पूर्व की भाँति, गाँव-नगर और जन-जन तक पहुँचाने का अपना भगीरथ प्रयास जारी रखेंगे।

रामचन्द्र राही
संयोजक,
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

गीता-प्रवचन

सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन

'गीता-प्रवचन' में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' उसके और आगेका ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापरसे कहा गया है। 'गीताई-चिंतनिका' गीताईका सूक्ष्म अध्ययन करनेवालोंके लिए है। तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह संक्षेपमें सांगोपांग कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आयेंगी और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुंचा भी है, परंतु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रवाहमें खिंचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीलाका ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता-प्रवचन' को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवांतर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद दोहराता रहता है, ऐसा उसमें किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी-जैसा सहृदय और 'लांगहैंड' से ही 'शार्टहैंड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता, तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना, उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति हो गयी होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजी बजाजको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला। मैं समझता हूं, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ़ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वर की इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।

(एक पत्रसे)

हैदराबाद (द०), 16-3-1951 —विनोबा

विषय-क्रम

पहला अध्याय

प्रास्ताविक आख्यायिका : अर्जुनका विषाद

1. मध्ये-महाभारतम्

प्रिय भाइयो,

1. आजसे मैं श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके विषयमें कहनेवाला हूं। गीताका और मेरा संबंध तर्कसे परे है। मेरा शरीर मांके दूध पर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरे हृदय और बुद्धिका पोषण गीताके दूध पर हुआ है। जहां हार्दिक संबंध होता है, वहां तर्ककी गुंजाइश नहीं रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा और प्रयोग, इन दो पंखोंसे ही मैं गीता-गगनमें यथाशक्ति उड़ान भरता रहता हूं। मैं प्रायः गीताके ही वातावरणमें रहता हूं। गीता मेरा प्राणतत्त्व है। जब मैं गीताके संबंधमें किसीसे बात करता हूं, तब गीता-सागर पर तैरता हूं और जब अकेला रहता हूं तब उस अमृत-सागरमें गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हूं। ऐसे इस गीतामाताका चरित्र मैं हर रविवारको आपको सुनाऊं, यह तय हुआ है।

2. गीताकी योजना महाभारतमेंकी गयी है। गीता महाभारतके मध्यभागमें एक ऊंचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश पूरे महाभारत पर पड़ रहा है। एक ओर छह पर्व और दूसरी ओर बारह पर्व, इनके मध्यभागमें; उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना और दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्यभागमें गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

3. महाभारत और रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमें एकरूप हो गये हैं। राम, सीता, धर्मराज, द्रौपदी, भीष्म, हनुमान आदि रामायण-महाभारतके चरित्रोंने सारे भारतीय जीवनको हजारों वर्षोंसे मंत्रमुग्ध-सा कर रखा है। संसारके अन्य महाकाव्योंके पात्र इस तरह लोकजीवनमें घुले-मिले नहीं दिखायी देते। इस दृष्टिसे महाभारत और रामायण निस्संदेह अद्‌भुत ग्रंथ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीतिकाव्य है, तो महाभारत एक व्यापक समाजशास्त्र। व्यासदेवने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों, चरित्रों और

चारित्र्योंका यथावत् चित्रण बड़ी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नहीं है, लेकिन उसी तरह केवल दोषपूर्ण भी इस संसारमें कोई नहीं, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रहा है। एक ओर जहां भीष्म-युधिष्ठिर जैसोंके दोष दिखाये हैं, तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादिके भी गुणों पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत बतलाता है कि मानव-जीवन सफेद और काले तंतुओंका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान व्यास जगत्के— विराट संसारके— छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते हैं। व्यासदेवके इस अत्यंत अलिप्त और उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रंथ मानो एक सोनेकी बड़ी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाये।

4. व्यासदेवने इतना बड़ा महाभारत लिखा, परंतु उन्हें अपनी ओरसे कुछ कहना था या नहीं ? क्या किसी जगह उन्होंने अपना कोई खास संदेश भी दिया है ? किस स्थान पर व्यासदेवकी समाधि लगी है ? स्थान-स्थान पर अनेक तत्त्वज्ञान और उपदेशोंके जंगल-के-जंगल महाभारतमें आये हैं, परंतु इन सारे तत्त्वज्ञानोंका, उपदेशोंका और समूचे ग्रंथका सारभूत रहस्य भी उन्होंने कहीं लिखा है ? हां, लिखा है। समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्गीतामें रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रमुख सिखावन और उनके मननका संपूर्ण संग्रह है। इसीके आधार पर 'मैं मुनियोंमें व्यास हूं' यह विभूति सार्थक सिद्ध होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे 'उपनिषद' की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदोंकी भी उपनिषद है, क्योंकि समस्त उपनिषदोंको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवानने अर्जुनके निमित्तसे संसारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिंदू-धर्मका एक छोटा-सा ही, परंतु मुख्य ग्रंथ है।

5. यह तो सभी जानते हैं कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गयी। भगवान और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हें भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण— इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न

हो गया, मानो तीनोंकी समाधि लग गयी। गीताके अध्येतामें ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

2. अर्जुनकी भूमिकाका संबंध

6. कुछ लोगोंका खयाल है कि गीताका आरंभ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशका आरंभ होता है, तो वहींसे आरंभ क्यों न समझा जाये ? एक व्यक्तिने मुझसे कहा— "भगवानने अक्षरोंमें अकारको ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर **अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्** के आरंभमें अनायास 'अकार' आ गया है। अत: वहींसे आरंभ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड़ दें तो भी इसमें शंका नहीं है कि वहांसे आरंभ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उससे पहलेके प्रास्ताविक भागका भी महत्त्व है ही। अर्जुन किस भूमिका पर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथाभागके बिना अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता।

7. कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। उनके मतमें गीता केवल कर्मयोग ही नहीं बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करनेसे इस कथनकी भूल हमें दीख पड़ेगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लड़नेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवानने अर्जुनको उस सेनाकी योग्यताका बनाया ? अर्जुन घबड़ाया, न कि वह सेना ? तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी ? यह बात कल्पनामें भी नहीं आ सकती। अर्जुन, जो लड़ाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नहीं। सैकड़ों लड़ाइयोंमें अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण और कर्णके दांत खट्टे कर दिये थे। सदा विजय प्राप्त करनेवाला और सब नरोंमें एक ही सच्चा नर, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीरवृत्ति उसके रोम-रोममें भरी थी। अर्जुनको उकसानेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए 'क्लैब्य' का आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परंतु उनका वह तीर बेकार गया और फिर उन्हें दूसरे ही मुद्दोंको लेकर ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पड़े। तो यह

निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नहीं है।

8. कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। मेरी दृष्टिसे यह कथन भी ठीक नहीं है। यह देखनेके लिए पहले हमें अर्जुनकी भूमिका बारीकीसे समझनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्यायसे और दूसरे अध्यायमें पहुंची हुई उसकी खाड़ीसे हमें बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमें खड़ा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर और कर्त्तव्य भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमें थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टला नहीं था। कम-से-कम मांगका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसेकी मध्यस्थता, दोनों बातें बेकार हो चुकी थीं। ऐसी स्थितिमें अनेक देशोंके राजाओंको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराकर वह रणांगणमें खड़ा है और वीरवृत्तिके उत्साहके साथ श्रीकृष्णसे कहता है— "दोनों सेनाओंके बीच मेरा रथ खड़ा कीजिए, जिससे मैं एक बार उन लोगोंके चेहरे तो देख लूं, जो मुझसे लड़नेके लिए तैयार होकर आये हैं।" कृष्ण ऐसा ही करते हैं। अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखायी देता है ? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-संबंधियोंका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि दादा, बाप, बेटे, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियोंकी चार पीढ़ियां मरने-मारनेके अंतिम निश्चयसे वहां एकत्र हुई हैं। यह बात नहीं कि इससे पहले उसे इन बातोंकी कल्पना न हो, परंतु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ अलग ही प्रभाव पड़ता है। उस सारे स्वजनसमूहको देखकर उसके हृदयमें एक उथल-पुथल मचती है। उसे बहुत बुरा लगता है। आज तक उसने अनेक युद्धोंमें असंख्य वीरोंका संहार किया था। उस समय उसे बुरा नहीं लगा था, उसका गांडीव हाथसे गिर नहीं पड़ा था, शरीरमें कंप नहीं हुआ था, उसकी आंखें गीली नहीं हुई थीं। तो फिर इसी समय ऐसा क्यों हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमें अहिंसा-वृत्तिका उदय हुआ था ? नहीं, यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओंके मुंड गेंदकी तरह उड़ा दिये होते। परंतु इस आसक्तिजनित मोहने उसकी कर्त्तव्यनिष्ठाको ग्रस लिया और

तब उसे तत्त्वज्ञान याद आया। कर्त्तव्यनिष्ठ मनुष्यको मोहग्रस्त होने पर भी नग्न— खुल्लमखुल्ला— कर्त्तव्यच्युति सहन नहीं होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुनका हुआ। अब वह झूठ-मूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमें एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचारवाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाज पर तरह-तरहके संकट आयेंगे, आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

9. यहां मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ों अपराधियोंको फांसीकी सजा दी थी। परंतु एक दिन खुद उसीका लड़का खूनके जुर्ममें उसके सामने पेश किया गया। बेटे पर खूनका जुर्म साबित हुआ और उसे फांसीकी सजा देनेकी नौबत न्यायाधीश पर आ गयी। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा— "फांसीकी सजा बड़ी अमानुषी है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नहीं देता। इससे अपराधीके सुधरनेकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवालेने भावनाके आवेशमें, खून कर डाला। परंतु उसकी आंखों परसे जनून उतर जाने पर उस व्यक्तिको गंभीरतापूर्वक फांसीके तख्ते पर चढ़ाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए बड़ी लज्जाकी बात है, बड़ा कलंक है"— आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लड़का सामने न आया होता, तो जज साहब बेखटके जिंदगीभर फांसीकी सजा देते रहते। किंतु वे अपने लड़केके ममत्वके कारण ऐसी बातें करने लगे। उनकी वह बात आंतरिक नहीं थी। वह आसक्तिजनित थी। 'यह मेरा लड़का है' इस ममत्वमेंसे वह वाङ्मय निकला था।

10. अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थीं, वे गलत नहीं थीं। पिछले महायुद्धके ठीक यही परिणाम दुनियाने प्रत्यक्ष देखे हैं। परंतु सोचनेकी बात इतनी ही है कि वह अर्जुनका तत्त्वज्ञान (दर्शन) नहीं था, कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होंने उसपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता, तो उसे किसीने कितना ही अवांतर ज्ञान-विज्ञान बताया होता, तो भी असली बातका जवाब मिले बिना उसका समाधान

न हुआ होता। परंतु सारी गीतामें इस मुद्देका कहीं भी जवाब नहीं दिया है, फिर भी अर्जुनका समाधान हुआ है। यह सब कहनेका अर्थ इतना ही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नहीं थी, वह युद्धप्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्यरूपसे निश्चित कर्त्तव्य था। उसे वह मोहके वश होकर टालना चाहता था और गीताका मुख्यतः इस मोह पर ही गदाप्रहार है।

3. गीताका प्रयोजन : स्वधर्म-विरोधी मोहका निरसन

11. अर्जुन अहिंसाकी ही नहीं, संन्यासकी भी भाषा बोलने लगा। वह कहता है— "इस रक्त-लांछित क्षात्र-धर्मसे संन्यास ही अच्छा है।" परंतु क्या वह अर्जुनका स्वधर्म था ? उसकी वह वृत्ति थी क्या ? अर्जुन संन्यासीका वेष तो बड़े मजेमें बना सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे ला सकता था ? संन्यासके नाम पर यदि वह जंगलमें जाकर रहता, तो वहां हिरन मारना शुरू कर देता। अतः भगवानने साफ ही कहा— "अर्जुन, तू जो यह कह रहा है कि मैं लड़ूंगा नहीं, वह तेरा भ्रम है। आज तक जो तेरा स्वभाव बना हुआ है, वह तुझे लड़ाये बिना रहेगा नहीं।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परंतु स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकासकर लेना चाहिए, क्योंकि उसमें रहनेसे ही विकास हो सकता है। इसमें अभिमानका कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें और छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे नापका होता है। **श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः**— इस गीता-वचनमें 'धर्म' शब्दका अर्थ हिंदू-धर्म, इस्लाम-धर्म, ईसाई-धर्म आदि जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहां जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं, उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा भी धर्म जो दस वर्ष पहले था, वह आज नहीं है। आजका धर्म दस वर्ष बाद टिकेगा नहीं। चिंतन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तियां बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता है और नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकड़कर कुछ भी नहीं करना है।

12. दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण

नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता हूं। सूर्य मेरे लिए वंदनीय भी है। परंतु इसलिए यदि मैं पृथ्वी पर रहना छोड़कर उसके पास जाना चाहूंगा, तो जलकर ख़ाक हो जाऊंगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वी पर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, स्वयंप्रकाशी न हो, तो भी जब तक सूर्यका तेज सहन करनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है, तब तक सूर्यसे दूर पृथ्वी पर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलीसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहो' तो क्या मछली उसे मंजूर करेगी ? मछली तो पानीमें ही जी सकती है, दूधमें मर जायेगी।

13. दूसरेका धर्म सरल मालूम हो, तो भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक संभाल नहीं कर पाता, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले, तो वह ढोंग होगा और भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी। संसारका बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगलमें जानेवाला पहले वहां छोटी-सी कुटिया बनायेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड़ लगायेगा। ऐसा करते-करते उसपर वहां सवाया संसार खड़ा करनेकी नौबत आ जायेगी। यदि सचमुच मनमें वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर संन्यास भी कौन कठिन बात है ? संन्यासको आसान बतानेवाले स्मृतिवचन तो हैं ही। परंतु मुख्य बात वृत्तिकी है। जिसकी जो सच्ची वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिनका यह प्रश्न नहीं है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति सच्ची होनी चाहिए।

14. परंतु कुछ भावुक व्यक्ति पूछते हैं— "यदि युद्ध-धर्मसे संन्यास सदा ही श्रेष्ठ है, तो फिर भगवानने अर्जुनको सच्चा संन्यासी ही क्यों नहीं बनाया ? उनके लिए क्या यह असंभव था ?" उनके लिए असंभव तो कुछ भी नहीं था। परंतु फिर उसमें अर्जुनका पुरुषार्थ ही क्या रह जाता ? परमेश्वरने स्वतंत्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीमें मजा है। छोटे बच्चोंको स्वयं चित्र बनानेमें आनंद आता है। उन्हें यह पसंद नहीं आता कि कोई उनसे हाथ पकड़कर चित्र बनवाये। शिक्षक यदि बच्चोंके सवाल झट् हलकर दिया करें, तो फिर बच्चोंकी बुद्धि बढ़ेगी कैसे ? मां-बाप और गुरुका काम सिर्फ

सुझाव देना है। परमेश्वर अंदरसे हमें सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नहीं करता। कुम्हारकी तरह भगवान ठोंक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरएकका मटका तैयार करे, तो उसमें मजा ही क्या ? हम हंड़िया नहीं हैं, हम तो चिन्मय हैं।

15. इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमें आ गयी होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममें बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-संमूढ़ हो गया था। स्वधर्मके विषयमें उसके मनमें मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलाहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवानने पूछा है— "अर्जुन, तेरा मोह गया न ?" और अर्जुन जवाब देता है, "हां, भगवान, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका भान हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसंहारको मिलाकर देखें, तो मोह-निरसन ही उसका तात्पर्य निकलता है। गीता ही नहीं, सारे महाभारतका यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारंभमें ही कहा है कि लोकहृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मैं यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हूं।

4. ऋजु-बुद्धिका अधिकारी

16. आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आती है, इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही; परंतु इसका और भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यंत ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु' अथवा 'सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमें जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने खुले मनसे भगवानके सामने रख दिये। मनमें कुछ भी छिपा नहीं रखा और वह अंतमें श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिए तो वह पहलेसे ही कृष्ण-शरण था। कृष्णको सारथि बनाकर जबसे उसने अपने घोड़ोंकी लगाम उनके हाथोंमें पकड़ायी, तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोंकी लगाम भी उनके हाथोंमें सौंप देनेकी तैयारी कर ली थी। आइए, हम भी ऐसा ही करें। 'अर्जुनके पास तो कृष्ण थे, हमें कृष्ण कहांसे मिलेंगे ?'— ऐसा हम न कहें। 'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक

उर्फ भ्रामक धारणामें हम न पड़ें। अंतर्यामीके रूपमें कृष्ण प्रत्येकके हृदयमें विराजमान है। हमारे निकटसे निकट वे ही हैं। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उनके सामने रख दें और उनसे कहें— "भगवन्! मैं तेरी शरणमें हूं, तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू दिखायेगा, मैं उसीपर चलूंगा।" यदि हम ऐसा करेंगे, तो वह पार्थ-सारथि हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनायेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा।

रविवार, 21-2-32

दूसरा अध्याय

सब उपदेश थोड़ेमें : आत्मज्ञान और समत्वबुद्धि

5. गीताकी परिभाषा

1. भाइयो, पिछली बार हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विषादका भी योग बनता है। इसीको 'हृदय-मंथन' कहते हैं। गीताकी इस भूमिकाको मैंने उसके संकल्पकारके अनुसार 'अर्जुन-विषाद-योग' जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए 'विषाद-योग' जैसा सामान्य नाम दिया है, क्योंकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्तमात्र है। यह नहीं समझना चाहिए कि पंढरपुर (महाराष्ट्र) के पांडुरंगका अवतार सिर्फ पुंडलीकके लिए ही हुआ, क्योंकि हम देखते हैं कि पुंडलीकके निमित्तसे वह हम जड़ जीवोंके उद्धारके लिए आज हजारों वर्षोंसे खड़ा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यों न हो, हम सबके लिए है। अतः गीताके पहले अध्यायके लिए 'विषाद-योग' जैसा सामान्य नाम ही शोभा देता है। यह गीतारूपी वृक्ष यहांसे बढ़ते-बढ़ते अंतिम अध्यायमें 'प्रसाद-योग'-रूपी फलको प्राप्त होनेवाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी, तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमें वहांतक पहुंच जायेंगे।

2. दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरंभ होता है। शुरूमें ही भगवान

जीवनके महासिद्धांत बता रहे हैं। इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व गले उतर जायें, जिनके आधार पर जीवनकी इमारत खड़ी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायेगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले 'सांख्य-बुद्धि' शब्दका अर्थ मैं करता हूं— जीवनके मूलभूत सिद्धांत। इन मूल सिद्धांतोंको अब हमें देख जाना है। परंतु इसके पहले यदि हम इस 'सांख्य' शब्दके प्रसंगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोंके अर्थका थोड़ा स्पष्टीकरण कर लें, तो अच्छा होगा।

'गीता' पुराने शास्त्रीय शब्दोंको नये अर्थोंमें प्रयुक्त करनेकी आदी है। पुराने शब्दों पर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रांतिकी अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्धहस्त हैं। इससे गीताके शब्दोंको व्यापक सामर्थ्य प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही, एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार उसमेंसे अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका पर से ये सब अर्थ सही हो सकते हैं, और उनके विरोधकी आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतंत्र अर्थ भी कर सकते हैं, ऐसी मेरी दृष्टि है।

3. इस सिलसिलेमें उपनिषदमें एक सुंदर कथा है। एक बार देव, दानव और मानव, तीनों प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुंचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया— 'द'। देवोंने कहा— "हम देवता लोग कामी हैं, हमें विषय-भोगोंकी चाट लग गयी है। अतः हमें प्रजापतिने 'द' अक्षर के द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोंने कहा— "हम दानव बड़े क्रोधी और दयाहीन हो गये हैं। हमें 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षादी है कि 'दया' करो।" मानवोंने कहा— "हम मानव बड़े लोभी और धन-संचयके पीछे पड़े हैं, हमें 'द' अक्षरके द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोंको ठीक माना, क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवोंसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषदकी यह कथा हमें ध्यानमें रखनी चाहिए।

6. जीवन-सिद्धांत : (1) देहसे स्वधर्माचरण

4. दूसरे अध्यायमें जीवनके तीन महासिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं-(1) आत्माकी अमरता और अखंडता, (2) देहकी क्षुद्रता और (3) स्वधर्मकी

अबाध्यता। इनमें स्वधर्मका सिद्धांत कर्त्तव्यरूप है और शेष दो ज्ञातव्य हैं। पिछली बार मैंने स्वधर्मके संबंधमें कुछ कहा ही था। यह स्वधर्म हमें निसर्गत: ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि हम आकाशसे गिरे और धरती पर संभले। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अड़ोसी-पड़ोसी थे। ऐसे इस प्रवाहमें हमारा जन्म होता है। अत: जिन मां-बापकी कोखसे मैं जनमा हूं, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मत: ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जनमता है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है, क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते हैं और कहते हैं कि जैसे पत्नीका संबंध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-संबंध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण मालूम होती है। मैं स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हूं। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममें करना बाकी नहीं रहा। वह पहले ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी भी क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्में हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। स्वधर्मको टालनेकी इच्छा करना मानो 'स्व' को ही टालने जैसा आत्मघातकीपन है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अत: यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नहीं छोड़ना चाहिए— यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धांत स्थिर होता है।

5. स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परंतु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है और हुआ भी, तो उसमें विष— अनेक प्रकारके दोष— मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें कांटे बिखेरनेवाले मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक मुख्य बात दिखायी देती है— संकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मैं और

मेरे शरीरसे संबंध रखनेवाले व्यक्ति, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति— फैलाव है। इस दायरेके बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन हैं। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खड़ीकर देती है। और तारीफ यह है कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देह-बुद्धिके इस दुहरे पेचमें पड़कर हम तरह-तरहके छोटे डबरे बनाने लगते हैं। प्रायः सब लोग इसी कार्यक्रममें लगे रहते हैं। इनमें किसीका डबरा बड़ा, तो किसीका छोटा; परंतु है आखिर वह डबरा ही। इस शरीरकी चमड़ीके जितनी ही उसकी गहराई! कोई कुटुंबाभिमानका डबरा बनाकर रहता है, तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक डबरा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा। ऐसे एक-दो नहीं, अनेक डबरे बने हुए हैं। जिधर देखिए, उधर ये डबरे-ही-डबरे! हमारी इस जेलमें भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके डबरे बने ही हैं, मानो इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। परंतु इसका नतीजा ? यही कि हीन विचारोंके कीड़ोंकी बाढ़ आती है और स्वधर्मरूपी आरोग्यका नाश होता है।

7. जीवन-सिद्धांत : (2) देहातीत आत्माका भान

6. ऐसी दशामें स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धांत जागृत रखने पड़ते हैं। एक तो यह कि मैं यह मरियल देह नहीं हूं, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपड़ी है; और दूसरा यह कि मैं कभी न मरनेवाला अखंड और व्यापक आत्मा हूं। इन दोनोंको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्वज्ञान होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पड़ता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका अवतार बादमें करती है। कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञानसंबंधी ये श्लोक प्रारंभमें ही क्यों ? परंतु मुझे लगता है कि गीतामें यदि कोई श्लोक ऐसे हैं, जिनकी जगह बिलकुल नहीं बदली जा सकती, तो वे ये ही श्लोक हैं।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमें अंकित हो जाये, तो फिर स्वधर्म बिलकुल भारी नहीं पड़ेगा। यही नहीं, स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पड़ेगा।

आत्मतत्त्वकी अखंडता और देहकी क्षुद्रता, इन बातोंको समझ लेना कोई कठिन नहीं है; क्योंकि ये दोनों सत्य वस्तुएं हैं। परंतु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमें उनका मंथन करना होगा। इस चामके महत्त्वको घटाकर हमें आत्माको महत्त्व देना सीखना होगा।

7. यह देह तो पल-पल बदलती रहती है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा— इस चक्रका अनुभव किसे नहीं है ? आधुनिक वैज्ञानिकोंका तो कहना है कि सात सालमें शरीर बिलकुल बदल जाता है और पुराने खूनकी एक बूंद भी शेष नहीं रहती। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमें पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मीयाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी मांसे मिला, तो मां उसे पहचान न सकी— ऐसे किस्से हम सुनते हैं। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मरणशील देह ही तेरा रूप है ? रात-दिन जहां मल-मूत्रकी नालियां बहती हैं और तुझ जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जाने पर भी जिसका अस्वच्छताका व्रत छूटता ही नहीं, क्या वही तू है ? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला; वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला; वह साढ़े तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी; वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला; वह मरनेवाला, और तू उसके मरणका व्यवस्थापक; तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योंकर बनता है ? यह क्यों कहता है कि इस देहसे जितने संबंध रखते हैं, वे ही मेरे हैं ? और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्यों करता है ? भगवान पूछते हैं कि "अरे, देहका नाश क्या शोक करने जैसी बात है ?"

8. देह तो कपड़ेकी तरह है। पुराने फट जाते हैं, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते हैं। यदि कोई एक शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गति होती। सारा विकास रुक जाता, आनंद हवा हो जाता और ज्ञानप्रभा मंद पड़ जाती। अतः देहका नाश शोचनीय नहीं। हां, यदि आत्माका नाश होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह तो मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक देह आते और

जाते हैं। इसलिए देहके नाते-रिश्तोंके चक्करमें पड़कर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये हैं, ऐसे भेद या टुकड़े करना सर्वथा अनुचित है। यह सारा ब्रह्मांड मानो एक सुंदर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकड़े-टुकड़ेकर देता है, वैसेही इस देहके जितनी कैंची लेकर उस विश्वात्माके टुकड़े करना कितना लड़कपन और कितनी हिंसा है!

सचमुच, यह बड़े दु:खकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोड़े-बड़े गुटों, फिरकों और जातियोंकी चारों ओर भरमार दिखायी देती है और मरनेका तो इतना भय हमारे मनमें घर कर गया है कि वैसा शायद ही कहीं दूसरी जगह हो! इसमें कोई शक नहीं कि दीर्घकालीन परतंत्रताका यह परिणाम है, परंतु यह बात भूल जानेसे भी काम नहीं चलेगा कि वह भय भी इस परतंत्रताका एक कारण है।

9. 'मरण' शब्द भी हमें नहीं सुहाता। मरणका नाम लेना ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेवको बड़े दु:खके साथ लिखना पड़ा है— **अगा मर हा बोलु न साहती। आणि मेलिया तरी रडती॥** जब कोई मर जाता है, तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते हैं! मानो वह हमारा एक कर्त्तव्य ही हो। किराये पर रोनेवाले बुलाने तक बात जा पहुंची है। मृत्यु निकट आ जाने पर भी हम रोगीको नहीं बताते। यदि डॉक्टरने कह दिया हो कि यह नहीं बचेगा, तो भी रोगीको भ्रममें रखेंगे। खुद डॉक्टर भी साफ-साफ नहीं कहेगा। आखिरी दमतक गलेमें दवा उंड़ेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सच्ची बात बताकर, धीरज— दिलासा देकर, उसे ईश्वर स्मरणकी ओर लगाया जाये, तो कितना उपकार हो! किंतु उन्हें डर लगता है कि कहीं धक्केसे यह मटका पहले ही न फूट जाये! परंतु भला क्या निश्चित समयसे पहले यह मटका फूटनेवाला है ? और फिर जो मटका दो घंटे बाद फूटनेवाला है, वह थोड़ा पहले ही फूट गया, तो क्या बिगड़ गया ? इसके मानी यह नहीं कि हम कठोर-हृदय और प्रेम-शून्य बन जायें। किंतु देहासक्ति प्रेम नहीं है। उलटे, देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नहीं होता।

जब देहासक्ति दूर होगी, तब यह मालूम होगा कि देह तो सेवाका एक साधन है। और तब देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परंतु आज तो हम देहकी

पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे हैं। हम यह बात भी भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। स्वधर्माचरणके लिए देहको संभालना चाहिए, उसे खिलाना-पिलाना चाहिए। केवल जीभके चोचले पूरे करनेकी जरूरत नहीं। चम्मचसे चाहे हलुआ परोसो, चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं। ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए— उसे रस-ज्ञान तो हो, पर सुख-दुःख न हो। शरीरका भाड़ा शरीरको चुका दिया, बस खतम। चरखेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसमें तेल देनेकी आवश्यकता है। इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना ज़रूरी है। इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करें, तो मूलतः क्षुद्र होने पर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

10. लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममें न लाकर उसीमें डूब जाते हैं और आत्मसंकोच कर लेते हैं। इससे यह देह जो पहलेसे ही नगण्य है, और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है। इसलिए संतजन जोर देकर कहते हैं— **देह आणि देहसंबंधें निंदावीं। इतरें वंदावीं श्वानसूकरें॥** 'देह और देह-संबंध निंद्य हैं। अन्य श्वान, सूकर आदि भी वंद्य हैं।' अरे, तू इस देहकी और देहसे जिनका संबंध आया है उन्हींकी, दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोंको भी पहचानना सीख। संत इस प्रकार हमें व्यापक होनेकी सीख देते हैं। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रोंके अतिरिक्त दूसरोंके पास अपनी आत्मा जरा ले जाते हैं क्या? **जीव जीवांत घालावा। आत्मा आत्म्यांत मिसळावा॥** 'जीवमें जीव उंड़ेलें। आत्मामें आत्मा मिलायें' —ऐसा हम करते हैं क्या? अपने आत्महंसको इस पिंजरेके बाहरकी हवा खिलाते हैं क्या? —क्या कभी मनमें ऐसा आता है कि 'अपने माने हुए दायरेको पारकर कल मैंने नये दस मित्र बनाये, आज पंद्रह हुए, कल पचास होंगे, और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मैं विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूंगा!' हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोंको पत्र लिखते हैं, इसमें क्या विशेषता है? किंतु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नहीं, चोर कैदीको पत्र लिखेंगे क्या?

11. हमारी आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाती रहती है। वह चाहती है कि सारे जगत्को गले लगा लें। परंतु हम उसे बंद कर देते हैं। आत्माको हमने

कैदकर रखा है। उसकी याद भी हमें नहीं होती। सबेरेसे लेकर शाम तक हम देहकी सेवामें लगे रहते हैं। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा हुआ या कितना दुबला हो गया, मानो संसारमें कोई दूसरा आनंद ही नहीं रह गया! भोग और स्वादका आनंद तो पशु भी लेते हैं। अब त्यागका और स्वाद तोड़नेका आनंद भी लोगे या नहीं ? स्वयं भूखसे पीड़ित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको दे देनेमें जो आनंद है, उसका अनुभव करो। उसके स्वादको चखो। मां जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है, तब उसे इस मिठासका थोड़ा-सा स्वाद चखनेको मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो संकुचित दायरा बनाता रहता है, उसमें भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्मविकासका स्वाद चखे; क्योंकि देहबद्ध आत्मा कुछ देरके लिए थोड़ी उससे बाहर निकलती है। परंतु यह बाहर आना किस प्रकारका है ? ठीक वैसा जैसा कि जेलकी कोठरीके कैदीका कामके बहाने जेलके अहातेमें आना। परंतु आत्माका काम इतनेसे नहीं चलता। आत्माको तो मुक्तानंद चाहिए।

12. सारांश, (1) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके टेढ़े रास्तेको छोड़कर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकड़े। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोड़े। (2) देह क्षणभंगुर है, यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो, तो उसे स्वधर्मके लिए त्यागनेमें भी संकोच न करे। (3) आत्माकी अखंडता और व्यापकताका भान सतत जागृत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धांत भगवान बताते हैं। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्संदेह एक दिन नरदेहाचेनि साधनें, सच्चिदानंद-पदवी घेणें— नरदेहरूपी साधनके द्वारा सच्चिदानंद-पदके अनुभवको प्राप्त करेगा।

8. दोनोंका मेल साधनेकी युक्ति : फलत्याग

13. भगवानने जीवनके सिद्धांत तो बताये, किंतु केवल सिद्धांत बता देनेसे काम पूरा नहीं होता। गीतामें वर्णित ये सिद्धांत तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही थे। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया, इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं है। उसकी अपूर्वता तो यह बतलानेमें है कि इन सिद्धांतोंको आचरणमें कैसे लायें।

इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है।

जीवनके सिद्धांतोंको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको 'योग' कहते हैं। 'सांख्य' का अर्थ है— 'सिद्धांत' अथवा 'शास्त्र' और 'योग' का अर्थ है 'कला' । ज्ञानदेव अपनी साक्षी देते हैं— **योगियां साधली जीवन-कळा।** 'योगियोंने जीवन-कला साध ली है।' गीता सांख्य और योग, शास्त्र और कला, दोनोंसे परिपूर्ण है। शास्त्र और कला, दोनोंके योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवामें रहेगा। संगीतका शास्त्र समझ तो लिया, किंतु यदि कंठसे संगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्मकी सजावट नहीं होगी। यही कारण है कि भगवानने सिद्धांतोंके साथ-साथ उनका विनियोग सिखानेवाली कला भी बतायी है। भला कौन-सी है वह कला ? देहको तुच्छ मानकर, आत्माकी अमरता और अखंडता पर दृष्टि रखकर, स्वधर्मका आचरण करनेकी कौन-सी है वह कला ?

जो कर्म करते हैं, उनकी वृत्ति दुहरी होती है। एक यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे। वह हमारा अधिकार है। इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको न मिले, तो हम कर्म ही नहीं करेंगे। गीता तीसरी ही वृत्ति बताती है। वह कहती है— ''कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो।'' जो कर्म करता है, उसे फलका अधिकार अवश्य है। परंतु तुम उस अधिकारको स्वेच्छासे छोड़ दो। रजोगुण कहता है— ''लूंगा तो फलके सहित ही लूंगा।'' और तमोगुण कहता है— ''छोड़ूंगा तो कर्मसमेत ही छोड़ूंगा।'' ये दोनों एक-दूसरेके भाई ही हैं। अतः तुम इन दोनोंसे ऊपर उठकर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड़ दो और फलको छोड़कर कर्म करो। पहले और पीछे कहीं भी फलकी इच्छा मत रखो।

14. 'फलकी इच्छा न रखो'— ऐसा कहते हुए गीता यह भी जताती है कि कर्म उत्कृष्ट होना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फलसंबंधी स्वप्न-चिंतनमें उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परंतु फलेच्छारहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी

शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नहीं, हवाको विश्राम नहीं, सूर्य सदैव जलना ही जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्ता सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। यदि ऐसे निरंतर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ? फिर चित्तकी समता एक बड़ा ही कुशल गुण है और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है। किसी बिलकुल बाहरी कारीगरीके काममें भी हस्तकौशलके साथ यदि चित्तके समंत्वका योग हो, तो जाहिर है कि वह काम और भी अधिक सुंदर बनेगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अंतर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुषकर्म की ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मेरा ही फल'— इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका ध्यान थोड़ा हट भी गया, तो उसमें उसे नैतिक दोष नहीं मालूम होता। बहुत हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पड़ता है। परंतु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्त्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोड़ी-सी भी कमी न रह जाये। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिए, फल-त्याग अत्यंत कुशल एवं सफल तत्त्व सिद्ध होता है। अतः फल-त्यागको 'योग' अथवा 'जीवनकी कला' कहना चाहिए।

15. यदि निष्काम कर्मकी बात छोड़ दें, तो भी प्रत्यक्ष कर्ममें जो आनंद है, वह उसके फलमें नहीं है! स्वकर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है, वह आनंदका एक झरना ही है। चित्रकारसे कहिए— "चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम चाहे जितने पैसे ले लो", तो वह नहीं मानेगा। किसानसे कहिए— "खेत पर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ; तुम जितना कहोगे, उतना अनाज़ तुम्हें दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा तो वह यह सौदा पसंद नहीं करेगा। किसान प्रातःकाल खेत पर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते हैं। गाय-बैल उसके आसपास घिरे रहते हैं। वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है। जो पेड़-पौधे लगाये हैं, उनको भरनजर देखता है। इन सब कामोंमें एक सात्त्विक आनंद है। यह आनंद ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामें उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौगुना बढ़ा देती हैं। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्मगत तन्मयता समाधिकी कोटिकी होती है। इसीलिए उसका आनंद औरोंसे सौगुना अधिक होता है। इस तरह देखें तो यह बात तुरंत समझमें आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक महान फल है। ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है— "वृक्षमें फल लगते हैं, पर फल में अब और क्या फल लगेंगे ?" इस देहरूपी वृक्षमें निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुंदर फल लग चुकने पर अब अन्य किस फलकी और क्यों अपेक्षा रखें ? किसान खेतमें गेहूं बोये और गेहूं बेचकर ज्वारकी रोटी क्यों खाये ? सुस्वादु केले लगाये और उन्हें बेचकर मिर्च क्यों खाये ? अरे भाई, केले ही खाओ न! पर लोकमतको यह स्वीकार नहीं। केले खानेका भाग्य पाकर भी लोग मिर्च पर ही टूटते हैं। गीता कहती है— "तुम ऐसा मत करो, कर्म ही खाओ, कर्मही पियो और कर्मही पचाओ।" कर्म करनेमें ही सबकुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनंदके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायामका फल सहज ही मिल जाता है। परंतु उस फलकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता। उसका सारा आनंद उस खेलमें ही रहता है।

9. फल-त्यागके दो उदाहरण

16. संतजनोंने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुकारामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजीमहाराजके मनमें उनके प्रति बहुत आदर होता था। एक बार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परंतु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ। उन्होंने अपने मनमें सोचा— "यही है मेरी भक्तिका फल ? क्या इसीके लिए मैं भक्ति करता हूं ?" उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो भगवान मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें थमाकर उन्हें अपनेसे दूर हटाना चाहते हैं। उन्होंने कहा—

जाणोनि अंतर। टाळिसील करकर।
तुज लागली हे खोडी। पांडुरंगा बहु कुडी॥

[मेरे अंतरको जानते हुए भी तुम मेरी झंझट टालना चाहते हो ? हे पांडुरंग! तुम्हारी यह टेव बहुत बुरी है।] "भगवन्, तुम्हारी यह टेव अच्छी नहीं। तुम

मुझे ये घुंघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही न दूं! परंतु मैं भी कच्चा नहीं हूं। मैं तुम्हारे पांव पकड़कर बैठ जाऊंगा।'' भक्तिही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमें दूसरे-तीसरे फलोंकी शाखाएं न फूटने देना ही उसकी जीवनकला है।

17. पुंडलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुंडलीक अपने मां-बापकी सेवाकर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पांडुरंग उसकी भेंटके लिए दौड़े आये। परंतु पुंडलीकने पांडुरंगके चक्करमें पड़कर अपने उस सेवा-कार्यको छोड़नेसे इनकार कर दिया। अपने मां-बापकी सेवा उसके लिए सच्ची ईश्वर-भक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरोंको लूट-खसोटकर अपने मां-बापको सुख पहुंचाता हो अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो तो दोनोंकी वह भक्ति, भक्ति नहीं कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुंडलीक ऐसी आसक्तिमें फंसा नहीं। उसने सोचा कि परमात्मा जिस रूपको धारणकर मेरे सामने खड़ा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखायी देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेत थी ? वह भगवानसे बोला—

''भगवन्, आप स्वयं मुझे मिलनेके लिए आये हैं, यह मैं जानता हूं, पर मैं 'भी'-सिद्धांतको माननेवाला हूं। आपही अकेले भगवान हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान हैं और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपकी ओर ध्यान नहीं दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिए।'' इतना कहकर उसने भगवानको खड़े रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंगको लेकर बड़े कुतूहलसे विनोदपूर्वक कहते हैं—

कां रे प्रेमें मातलासी। उभें केलें विठ्ठलासी।
ऐसा कैसा रे तूं धीट। मागें भिरकाविली वीट॥

''तू कैसा पागल प्रेमी है कि तूने विठ्ठलको खड़ा रखा ? तू कैसा ढीठ है कि तूने विठ्ठलके लिए ईंट सरका दी ?''

18. पुंडलीकने जो यह 'भी'-सिद्धांतका उपयोग किया, वह फलत्यागकी

युक्तिका एक अंग है। फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गंभीर होती है, वैसीही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविध तत्त्वज्ञानके जंजालमें नहीं पड़ता और न अपना सिद्धांत छोड़ता है। नान्यदस्तीतिवादिनः— 'यही है, दूसरा बिलकुल नहीं', ऐसे विवादमें वह नहीं पड़ता। 'यह भी है और वह भी है; परंतु मेरे लिए तो यही है', ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है।

एक बार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उसने उससे पूछा— "मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोड़ना आवश्यक है ?" साधुने कहा— "नहीं तो। देखो, जनक जैसोंने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुम्हें ही घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे उसने पूछा— "स्वामीजी, घर-बार छोड़े बिना क्या मोक्ष मिल सकता है ?" साधुने कहा— "कौन कहता है ? घरमें रहकर सेंतमेंतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसोंने जो घर-बार छोड़ा, तो क्या वे मूरख थे ?" बादमें उन दोनोंकी जब एक-दूसरेसे मुलाकात हुई, तो दोनोंमें बड़ा झगड़ा मचा। एक कहने लगा— "साधुने घर-बार छोड़नेके लिए कहा है।" दूसरेने कहा— "नहीं, उन्होंने कहा है कि घर-बार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है।" तब दोनों साधुके पास आये। साधुने कहा— "दोनों बातें सही हैं। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग, और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर। घर छोड़नेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोड़नेकी जरूरत नहीं है, यह भी सत्य है।" इसीका नाम है 'भी'-सिद्धांत।

19. पुंडलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंज़िल तक पहुंचनेवाला है। तुकारामको जो प्रलोभन भगवान देना चाहते थे, उससे पुंडलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था, परंतु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ। यदि हो जाता, तो फंस जाता। अतः एक बार साधनका निश्चय हो जाने पर फिर अंततक उसका आचरण करते रहना चाहिए। फिर बीचमें प्रत्यक्ष भगवानके दर्शन जैसी चीज खड़ी हो जाये, तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। देह बची है, वह साधनाके लिए ही है। भगवानका

दर्शन तो हाथमें ही है, वह जाता कहां है ? **सर्वात्मकपण माझें हिरोनि नेतो कोण ? मनीं भक्तीची आवडी**— ''मेरा सर्वात्मभाव कौन छीन ले जा सकता है ? मेरा मन तो तेरी भक्तिमें रंगा हुआ है।''

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है। **मां ते संगोऽस्त्वकर्मणि**— इस गीता-वचनका अर्थ यहां तक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी अर्थात् अंतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्षको वासनासे क्या लेना देना ? जब फल-त्याग इस मंजिल तक पहुंच जाता है, तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गयी।

10. आदर्श गुरुमूर्ति

20. शास्त्र भी बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतनेसे पूरा चित्र आंखोंके सामने खड़ा नहीं होता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है; परंतु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नहीं होता। केवल निर्गुण जिस प्रकार हवामें रहता है, उसी प्रकार निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है, जिसमें गुण मूर्तिमान हुए हैं, उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है— ''भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धांत बता दिये, उन सिद्धांतोंको आचरणमें लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नहीं होता। अतः मुझे अब चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषोंके लक्षण बताइए, जिनकी बुद्धिमें सांख्य-निष्ठा स्थिर हो गयी है और फल-त्यागरूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है। जिन्हें हम 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं, जो फल-त्यागकी पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधिमें मग्न हैं और निश्चयके महा-मेरू हैं; वे बोलते कैसे हैं, बैठते कैसे हैं, चलते कैसे हैं, यह सब मुझे बताइए। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें ? यह सब कहिए भगवन्!''

21. इसके लिए भगवानने दूसरे अध्यायके अंतिम अठारह श्लोकोंमें स्थितप्रज्ञका गंभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोंमें गीताके अठारह अध्यायोंका सार ही एकत्र कर दिया है। 'स्थितप्रज्ञ' गीताकी आदर्श मूर्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतंत्र है। आगे पांचवें अध्यायमें

जीवन्मुक्तका, बारहवेंमें भक्तका, चौदहवेंमें गुणातीतका और अठारहवेंमें ज्ञाननिष्ठका, ऐसा ही वर्णन आया है; परंतु स्थितप्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उसमें सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये हैं। हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायंकालीन प्रार्थनामें इन लक्षणोंका पाठ करते हैं। यदि प्रत्येक गांव और प्रत्येक घरमें ये पहुंचाये जा सकें, तो कितना आनंद होगा! परंतु पहले ये हमारे हृदयमें पैठें, तो फिर बाहर अपने-आप पहुंच जायेंगे। नित्यपाठकी चीज यदि यांत्रिक हो गयी, तो फिर वह चित्तमें अंकित होनेकी जगह उलटी मिट जाती है। पर यह दोष नित्यपाठका नहीं, मनन न करनेका है। नित्यपाठके साथ-साथ नित्य मनन और नित्य आत्मपरीक्षण आवश्यक है।

22. 'स्थितप्रज्ञ' यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य, यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परंतु संयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे ? अतः स्थितप्रज्ञको संयम-मूर्ति बताया गया है। बुद्धि हो आत्मनिष्ठ, और अंतर-बाह्य इंद्रियां हों बुद्धिके अधीन— यह है संयमका अर्थ। स्थितप्रज्ञ सारी इंद्रियोंको लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोगमें जोतता है। इंद्रियरूपी बैलोंसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभांति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमें खर्च करता है।

23. यह इंद्रिय-संयम सरल नहीं है। इंद्रियोंसे बिलकुल काम ही न लेना एक तरह आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नहीं हैं। इससे उल्टे, इंद्रियोंको खुला छोड़ देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही है। परंतु जिस प्रकार कछुआ खतरेकी जगह अपने सभी अवयवोंको भीतर खींच लेता है और बिना खतरेवाली जगह पर उनसे काम लेता है; उसी तरह विषय-भोगोंसे इंद्रियोंको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है। इसके लिए महान प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परंतु इतना होने पर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायेगा। तब क्या हम निराश हो जायें ? नहीं, साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिए। वह साधनाकी अपनी सब युक्तियां काममें लाये और फिर भी कमी रह जाये, तो उसमें भक्ति जोड़ दे। यह बड़ा कीमती सुझाव भगवानने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें

दिया है। हां, वह दिया है गिने गिनाये शब्दोंमें ही। परंतु ढेरों व्याख्यानोंकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है; क्योंकि जहां भक्तिकी अचूक आवश्यकता है, वहीं वह उपस्थितकी गयी है। स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका सविस्तार विवरण हमें आज यहां नहीं करना है। परंतु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जायें; इसलिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्में कौन हो गया, सो तो भगवान ही जानें; परंतु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमें पुंडलीककी मूर्ति सदैव मेरी आंखोंके सामने आती रहती है। वह मैंने आपके सामने रख ही दी है।

24. अच्छा, अब स्थितप्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थितप्रज्ञ

मिलाकर

संपूर्ण जीवन-शास्त्र

इसमेंसे ब्रह्मनिर्वाण यानी मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है ?

रविवार, 28-2-32

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

11. फलत्यागीको अनंत फल मिलता है

1. भाइयो, दूसरे अध्यायमें हमने सारे जीवन-शास्त्र पर निगाह डाली। अब तीसरे अध्यायमें इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण है। पहले हमने तत्त्वोंका विचार किया, अब उनकी तफसीलमें जायेंगे। पिछले अध्यायमें कर्मयोग-संबंधी विवेचन किया था। कर्मयोगमें महत्त्वकी वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमें फल-त्याग तो

है, परंतु प्रश्न यह उठता है कि फिर फल मिलता भी है या नहीं ? अत: तीसरे अध्यायमें कहते हैं कि कर्मफलको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनंतगुना फल प्राप्त करता है।

यहां मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बड़ी आशा बांधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नहीं किया था। सभा-मंडपमें आकर वह बोली— "मैं उसीके गलेमें वरमाला डालूंगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे सब तो लालचसे आये थे। लक्ष्मी नि:स्पृह वर खोजने निकल पड़ी। शेषनाग पर शांत भावसे लेटी हुई भगवान विष्णुकी मूर्ति उसे दिखायी दी। उनके गलेमें वरमाला डालकर वह अबतक उनके चरण दबाती हुई बैठी ही है। न मागे तयाची रमा होय दासी— 'जो नहीं चाहता, उसकी रमा दासी बनती है।' यही तो खूबी है।

2. साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास बाड़ लगाता है। पर इससे मिलनेवाला अनंत फल वह खो बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्प फल प्राप्त करता है; पर कर्मयोगी थोड़ा-सा करके भी अनंतगुना प्राप्त करता है। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉलस्टॉयने एक जगह लिखा है— "लोग ईसामसीहके त्यागकी बहुत स्तुति करते हैं। परंतु ये संसारी जीव तो रोज न जाने अपना कितना खून सुखाते हैं, दौड़-धूप करते हैं! पूरे दो गधोंका बोझ अपनी पीठ पर लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हें ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवानके लिए उठायें, तो सचमुच ईसासे भी बढ़ जायेंगे।"

3. संसारी मनुष्यकी तपस्या सचमुच बड़ी होती है, परंतु वह होती है क्षुद्र फलोंके खातिर। जैसी वासना, वैसा फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आंकते हैं, उससे ज्यादा कीमत संसारमें नहीं आंकी जाती। सुदामा चिउड़ा लेकर भगवानके पास गये। उस मुट्ठीभर चिउड़ेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो, परंतु सुदामाको वे अनमोल मालूम होते थे; क्योंकि उनमें भक्तिभाव था। वे अभिमंत्रित थे। उनके कण-कणमें भावना भरी थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यों न हो, मंत्रसे उसका मोल, उसका सामर्थ्य बढ़ जाता है। नोटका वजन भला कितना होगा ? उसे सुलगायें,

तो एक बूंद पानी भी शायद ही गरम हो! लेकिन उसपर मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमें यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावनारूपी मुहरकी कीमत है, कर्मरूपी कागजके टुकड़ेकी नहीं। एक तरहसे यह मैं मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हूं। मूर्ति-पूजाकी कल्पनामें बड़ा सौंदर्य है। इस मूर्तिको कौन तोड़-फोड़ सकता है ? यह मूर्ति पहले एक टुकड़ा ही तो थी। मैंने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकड़ेकर सकता है ? टुकड़े पत्थरके हो सकते हैं, भावनाके नहीं। जब मैं अपनी भावना मूर्तिमेंसे निकाल लूंगा, तब वहां पत्थर बच रहेगा और तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं।

4. कर्मका अर्थ हुआ पत्थर, या कागजका टुकड़ा। मेरी मांने कागजकी एक चिट पर टूटी-फूटी भाषामें दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियां लिखकर भेज दीं और दूसरे किसीने पचास पन्नोंका आलतू-फालतू पुलिंदा लिखकर भेजा। अब किसका वजन ज्यादा होगा ? मांकी उन चार पंक्तियोंमें जो भाव है, वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह पुलिंदा नहीं कर सकता। कर्ममें आर्द्रता चाहिए, भावना चाहिए। हम मजदूरके कामकी पैसेमें कीमत लगाते हैं और उसे मजदूरी दे देते हैं। परंतु दक्षिणाकी बात ऐसी नहीं है। दक्षिणा भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके संबंधमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कितनी दी। महत्त्वकी बात यह है कि उसमें आर्द्रता है या नहीं। मनुस्मृतिमें एक बड़ी मजेदार बात है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमें रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समयमें पहले ही फीस नहीं ले ली जाती थी। बारह साल पढ़ चुकनेके बाद जो कुछ देना हो, सो गुरुको दे दिया जाता था। मनु कहते हैं— "चढ़ा दो गुरुजीको एकआध पत्र-पुष्प, दे दो एकआध पंखा या खड़ाऊं, या पानीसे भरा कलश।" इसे आप मजाक मत समझिए, क्योंकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमें भला क्या वजन है ? परंतु उसके भक्तिभावमें ब्रह्मांडके बराबर वजन है। **रुक्मिणीनें एक्या तुळशीदळानें, गिरिधर प्रभु तुळिला**— 'रुक्मिणीने एक ही तुलसीदलसे गिरिधर प्रभुको तौल लिया।' सत्यभामाके मनभर गहनोंसे काम नहीं चला। परंतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसी-

दल जब रुक्मिणीमाताने पलड़ेमें डाल दिया, तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-दल अभिमंत्रित था। अब वह मामूली नहीं रह गया था। कर्मयोगीके कर्मकी भी यही बात है।

5. कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति गंगा स्नान करने गये हैं। उनमेंसे एक कहता है— ''लोग 'गंगा' 'गंगा' कहते हैं, उसमें है क्या ? दो हिस्से हाइड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ऐसे दो गैस एकत्र कर दिये, तो हो गयी गंगा। इससे अधिक उसमें क्या है ?'' दूसरा कहता है— ''भगवान विष्णुके पद-कमलोंसे निकली है, शंकरके जटाजूटमें इसने वास किया है, हजारों ब्रह्मर्षियोंने और राजर्षियोंने इसके तीर पर तपस्याकी है, अनंत पुण्य-कृत्य इसके तट पर हुए हैं— ऐसी यह पवित्र गंगामाई है।'' इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमें नहाता हैं। वह ऑक्सीजन-हाइड्रोजनवाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धिरूपी फल तो दोनोंको मिला ही। परंतु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धिरूपी फल भी मिला। यों तो गंगामें बैल भी नहाये, तो उसे देह-शुद्धि प्रास होगी। शरीरकी गंदगी निकल जायेगी। परंतु मनका मल कैसे धुलेगा ? एकको देह-शुद्धिका तुच्छफल मिला, दूसरेको उसके अलावा चित्त-शुद्धिरूपी अनमोल फल भी मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परंतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नहीं करता, उपासनाके लिए करता है। इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, साथ ही बुद्धिकी प्रभा भी फैलती है। आरोग्यके साथ स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्यनारायणसे मिलेगी।

6. कर्म वही, परंतु भावना-भेदसे उसमें अंतर पड़ जाता है। परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्मविकासक होता है, तो संसारी मनुष्यका कर्म आत्मबंधक सिद्ध होता हैं। जो कर्मयोगी किसान होगा, वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी उदरपूर्ति अवश्य होगी, परंतु उदरपूर्ति हो, इसलिए वह खेती नहीं करता; बल्कि खेतीकर सके, इसलिए भोजनको वह एक साधन मानेगा। स्वधर्म उसका साध्य और भोजन उसका साधन हुआ। परंतु दूसरा सामान्य किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य और खेतीरूपी स्वधर्म साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञके लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढंगसे कही गयी है। जहां दूसरे लोग जागृत रहते हैं, वहां कर्मयोगी सोता रहता है। जहां दूसरे लोग निद्रित रहते हैं, वहां कर्मयोगी जागृत रहता हैं। हम उदर-पूर्तिके लिए जागृत रहेंगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जागृत रहेगा कि उसका एकक्षण भी बिना कर्मके न जाये। वह खाता भी है, तो मजबूर होकर। इस पेटके मटकेमें इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है। संसारी मनुष्यको भोजनमें आनंद आता है, योगीको भोजनमें कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नहीं करेगा। संयमसे काम लेगा। एक की जो रात, वही दूसरे का दिन और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनंद, वही दूसरेका दु:ख और जो एकका दु:ख, वही दूसरेका आनंद हो जाता है। संसारी और कर्मयोगी, दोनोंके कर्म तो एक-से ही हैं; परंतु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोड़कर कर्ममें ही रमता है। संसारीकी तरह ही योगी भी खायेगा, पियेगा, सोयेगा। परंतु तत्संबंधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसीलिए तो आरंभमें ही स्थितप्रज्ञकी संयममूर्ति खड़ीकर दी गयी है, जबकि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी हैं।

संसारी पुरुष और कर्मयोगी, दोनोंके कर्मोंका साम्य और वैषम्य तत्काल दिखायी देता है। फर्ज कीजिए किं कर्मयोगी गो-रक्षाका कामकर रहा है, तो वह किस दृष्टिसे करेगा ? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध उपलब्ध हो, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टिसे प्रेम-संबंध जुड़े। यह नहीं कि मुझे वेतन मिले। वेतन तो कहीं गया नहीं है, परंतु असली आनंद, सच्चा सुख इस दिव्य भावनामें है।

7. कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरसकर देता है। तुलसीको जल चढ़ाये बिना भोजन नहीं करेंगे, इसमें वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-संबंध जोड़ा है। तुलसीको भूखा रखकर मैं पहले कैसे खा लूं ? इस तरह गायके साथ एकरूपता, वनस्पतिके साथ एकरूपता साधते-साधते हमें सारे विश्वसे एकरूपता साधनी है। भारतीय युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो संध्या आदि करनेके लिए चले जाते, परंतु भगवान श्रीकृष्ण रथके घोड़ें खोलकर उन्हें पानी पिलाते, खरहरा करते और उनके शरीरसे शल्य निकालते। उस सेवामें भगवानको

कितना आनंद आता था! कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नहीं। अपने पीतांबरमें दाना-रातिब लेकर घोड़ोंको देनेवाले उस पार्थसारथिका चित्र अपनी आंखोंके सामने खड़ा कीजिए और कर्मयोगके आनंदकी कल्पनाका अनुभव कीजिए। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म है। खादीके ही कामको लीजिए। कंधे पर खादीकी गांठ लादकर घर-घर फेरी लगानेवाला क्या ऊब जाता है? नहीं, क्योंकि वह इस विचारमें मस्त रहता है कि देशमें जो मेरे करोड़ों नंगे-भूखे भाई-बहन हैं, उन्हें मुझे दो कौर खिलाना है। उसका वह गजभर खादी खपाना समस्त दरिद्रनारायणके साथ जुड़ा हुआ होता है।

12. कर्मयोगके विविध प्रयोजन

8. निष्काम कर्मयोगमें अद्‌भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति और समाज, दोनोंका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्मयोगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है; परंतु सदा-सर्वदा उद्योगरत रहनेके कारण उसका शरीर निरोगी और स्वच्छ रहता है। उसके इस कर्मकी बदौलत उस समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योग-क्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, ज्यादा पैसा मिलेगा इसलिए अफीम और तंबाकू नहीं बोयेगा। वह अपने कर्मका संबंध समाज-मंगलके साथ जोड़ता है। स्वधर्मरूप कर्म समाजके लिए हितकर ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहाररूप कर्म जनताके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। अपनेको भूलकर अपने आसपासके समाजसे समरस होनेवाले ऐसे कर्मयोगी जिस समाजमें पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि और सौमनस्य रहता है।

9. कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, उसकी देह और बुद्धि तेजस्वी रहती है और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान फल उसे मिलता है। **कर्मणा शुद्धिः**— ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है; परंतु सर्वसाधारण जो कर्म करते हैं, वह नहीं। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उसीसे चित्त-शुद्धि होती है।

महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है। जाजलि नामक ब्राह्मण तुलाधारके

पास शब्द ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहते हैं — "भैया, इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पड़ता है।" इस बाह्य कर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा-सरल हो गया। छोटा बच्चा दूकानमें आये या बड़ी उम्रका, उसकी डंडी सबके लिए एक-सी रहती है— न ऊंची, न नीची। उद्योगका मन पर परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और फिर निर्मल चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिंब पड़ता है। अपने उस-उस कर्मोंसे कर्मयोगी अंतमें ज्ञान प्राप्त करते हैं। तराजूकी डंडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली।

सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ— "देखो, मैं दूसरोंके सिरका मैलतो निकालता हूं, परंतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका भी मैल मैंने निकाला है ?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयका वासना-विकाररूपी कचरा निकाल डालनेकी बुद्धि उपजती है।

मिट्टीको रौंदकर समाजको पक्की हंड़िया देनेवाला गोरा कुम्हार अपने मनमें ऐसी पक्की गांठ बांधता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हंड़िया पक्की बना लेनी चाहिए। इस प्रकार वह हाथमें थपकी लेकर 'हंड़िया कच्ची है या पक्की ?'— यों संतोंकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है।

उस-उस कर्मयोगीको उस-उस कर्म या धंधेकी भाषामेंसे ही भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म क्या थे, मानो उनकी अध्यात्म-शाला ही हों। उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे देखनेमें व्यावहारिक, परंतु वास्तवमें आध्यात्मिक थे।

10. कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है और वह है, समाजके सामने एक आदर्श। समाजमें यह भेद तो है ही कि यह पहले जनमा है और वह बादमें। जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे बादमें पैदा होने-वालोंके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है। बड़े भाई पर छोटे भाईको, मां-बाप पर बेटा-बेटीको, नेता पर अनुयायियोंको, गुरु पर शिष्यको, अपनी

कृतिके द्वारा उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है। ऐसा उदाहरण कर्मयोगीके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है ?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है; क्योंकि कर्ममें ही उसे आनंद मालूम होता है। इससे समाजमें दंभ नहीं बढ़ता। कर्मयोगी स्वयंतृप्त होता है, तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नहीं जाता। तुकाराम कहते हैं— "भजनसे भगवान मिल गया, तो क्या इसलिए मैं भजन छोड़ दूं ? भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

आधीं होता संतसंग। तुका झाला पांडुरंग।
त्याचें भजन राहीना। मूळस्वभाव जाईना॥

— 'पहले संतसंग था, जिससे तुकाराम पांडुरंग बन गया। लेकिन उसके भजनका तार अब टूटता नहीं। भला मूल स्वभाव भी कहीं छूटता है ?'

कर्मकी सीढ़ीसे चढ़कर शिखर तक पहुंच गये। परंतु शिखर पर पहुंचने पर भी कर्मयोगी सीढ़ी नहीं छोड़ता। वह उससे छूट ही नहीं सकती। उसकी इंद्रियोंको उन कर्मोंको करनेकी सहज आदत पड़ जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्मरूपी सेवाकी सीढ़ीका महत्त्व वह समाजको जंचाता रहता है।

समाजसे ढोंगका मिटना बहुत ही बड़ी चीज है। ढोंग-पाखंडसे समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि शांत बैठ जाये, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथ-पर-हाथ धरकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य तृप्त होनेके कारण आंतरिक सुखमें तल्लीन रहकर शांत रहेगा; परंतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायेगा। एक अंतस्तृप्त होकर स्वस्थ बैठा है, तो दूसरा मनमें कुढ़ता हुआ स्वस्थ बैठा है— ऐसी स्थिति भयंकर है। इससे दंभ, पाखंड बढ़ेगा। अत: सारे संत शिखर पर पहुंचकर भी साधनका पल्ला बड़ी सतर्कतासे पकड़े रहे, आमरण स्वधर्माचरण करते रहे। माता बच्चोंके गुड्डा-गुड़ियोंके खेलमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है। मां यदि उन खेलोंमें शरीक न हो, तो बच्चोंको उनमें मजा नहीं आयेगा। कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड़ देगा, तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड़ देंगे, हालांकि मनमें भूखे और निरानंद रहेंगे।

अत: कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह

नहीं मानता कि मैं कोई विशिष्ट मनुष्य हूं। औरोंकी अपेक्षा वह अनंतगुना परिश्रम बाहरसे करता है। अमुक एक कर्म पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नहीं है। कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नहीं है। यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोंकी अपेक्षा सौगुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलने पर भी तिगुना काम होने दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दीखने दो। चंदनकी सुगंध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोड़नेसे ऐसे अनंत फल प्राप्त करेगा। उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी। शरीर और बुद्धि दोनों सतेज रहेंगे। जिस समाजमें वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्तशुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजसे ढोंग, पाखंड मिटकर जीवनका पवित्र आदर्श भी प्रकट होगा। कर्मयोगकी यह अनुभवसिद्ध महिमा है।

13. कर्मयोग-व्रतका अंतराय

11. कर्मयोगी अपना कर्म औरोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा; क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा है। मैंने भगवानका पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमें पाया। परंतु क्या वह नैवेद्य उस पूजाका फल है ? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा, उसे प्रसादका अंश तो तुरंत मिलेगा ही। परंतु जो कर्मयोगी है, वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शनरूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोड़ी नहीं समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जायें। वह अपने कर्मकी कीमत कम आंकनेके लिए तैयार नहीं है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोंको नहीं नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है— **गहरा बो, पर गीला बो।** महज गहरे जोतनेसे काम नहीं चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई और तरी, दोनों होंगी तो भुट्टा बड़ा, कलाईके बराबर निकलेगा। अतः कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमें ईश्वर-भक्तिकी, ईश्वरार्पणतारूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके संबंधमें कुछ मूर्खतापूर्ण कल्पनाएं हमारे अंदर फैल गयी हैं। लोग समझते हैं कि जो परमार्थी हो गया, उसे हाथ-पांव हिलानेकी जरूरत नहीं, काम-

काज करनेकी जरूरत नहीं। कहते हैं, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कैसा परमार्थी ? परंतु कोई यह नहीं पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियोंका परमेश्वर तो कहीं घोड़ोंको खरहरा करता है, कहीं राजसूय-यज्ञके समय जूठी पत्तलें उठाता है, कहीं जंगलमें गायें चराने जाता है। वह द्वारिकाधीश फिर कभी गोकुल जाता, तो बंसी बजाते हुए गायें ही चराता! इस तरह संतोंने तो घोड़ोंको खरहरा करनेवाला, गायें चरानेवाला, रथ हांकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खड़ा किया है। और खुद संत भी कोई दरजीका तो कोई कुम्हारका, कोई बुनकरका तो कोई मालीका, कोई आटा पीसनेका तो कोई बनियेका, कोई नाईका तो कोई मरे ढोर खींचनेका, काम करते-करते मुक्त हो गये हैं।

12. ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोंसे डिगता है। इस सिलसिलेमें हमें इंद्रियोंका विशिष्ट स्वभाव ध्यानमें रखना चाहिए। हमारी इंद्रियां सदैव 'यह चाहिए और वह नहीं चाहिए'— ऐसे द्वंद्वोंसे घिरी रहती हैं। जो चाहिए, उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो नहीं चाहिए, उसके प्रति मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्मयोग वैसे कितना बढ़िया, कितना रमणीय, कितना अनंत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले और उसे छोड़'— ऐसा झमेला हमारे पीछे लगाकर दिन-रात हमें सताते रहते हैं। अतः भगवान इस अध्यायके अंतमें खतरेकी घंटी बजाते हैं कि इनका संग छोड़ो, इनसे बचो। स्थितप्रज्ञ जिस प्रकार संयमकी मूर्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, 6-3-32

चौथा अध्याय

कर्मयोग सहकारी साधना : विकर्म

14. कर्मको विकर्मका योग चाहिए

1. भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया। स्वधर्मको टालकर यदि हम अवांतर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामतारूपी फल अशक्य ही है। स्वदेशी माल बेचना व्यापारीका स्वधर्म है। परंतु इस स्वधर्मको छोड़कर जब वह सात समुंदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब मूलतः उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुत नफा मिलेगा। तो फिर उस कर्ममें निष्कामता कहांसे आयेगी ? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम लें। जो अहिंसाका उपासक है, उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है; परंतु यह संभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तवमें हिंसामय हो; क्योंकि हिंसा मनका एक धर्म है। महज बाहरसे हिंसाकर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायेगा, सो बात नहीं। तलवार हाथमें लेनेसे हिंसावृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परंतु तलवार छोड़ देनेसे मनुष्य अहिंसामय होता ही है, सो बात नहीं। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परंतु यह तो निष्कामताका आरंभ मात्र हुआ। इससे हम साध्य तक नहीं पहुंच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए स्वधर्माचरणरूपी साधन ही काफी नहीं है। दूसरे साधनोंका भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दीया नहीं जल जाता। उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी, तो अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जलायें ? इसके लिए मानसिक संशोधनकी जरूरत है। आत्म-परीक्षणके द्वारा चित्तकी मलिनता धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्केकी बात भगवानने बतायी थी। इसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

2. गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। हमारा खाना,

पीना, सोना, ये कर्म ही हैं; परंतु गीताका 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं। कर्मसे वहां मतलब स्वधर्माचरणसे है। परंतु इस स्वधर्माचरणरूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक महत्त्वपूर्ण सहायता जरूरी है। वह है, काम और क्रोधको जीतना। चित्त जब तक गंगाजलकी तरह निर्मल और प्रशांत न हो जाये, तब तक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायें, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म' 'विकर्म' और 'अकर्म'— ये तीन शब्द इस चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं, परंतु सिर झुकानेकी उस ऊपरी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो, तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अंतर्बाह्य दोनों एक होना चाहिए। बाहरसे मैं शिव-लिंग पर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूं। परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिंतनकी धारा भी अखंड न चलती हो, तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? फिर तो सामनेका वह शिव-लिंग भी पत्थर और मैं भी पत्थर! पत्थरके सामने पत्थर बैठा, यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्तशुद्धिरूपी कर्मका भी संयोग होता है।

3. 'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्दप्रयोगमें असहयोग इस शब्दसे 'अहिंसात्मक' इस विशेषणको अधिक महत्त्व है। अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरणरूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसमें खतरा है।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जब लोग गरीब और दुःखी होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इससे यह अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि जितने लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गये हैं। लोक-सेवा करते

हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो वह लोक-सेवा भयानक होनेकी संभावना है। अपने कुटुंबकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करेंगे और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकलके लोक-सेवकोंके जमघटमें दिखायी भी दे रहा है।

15. उभय संयोगसे अकर्म-स्फोट

4. कर्मके साथ मनका मेल जरूरी है। मनके इस मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आंतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकताके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमें बताये गये हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायसे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसंधानका योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामताकी ज्योति जलेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है, तब फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती है। यदि शरीर और मन भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, तो साधन भी दोनोंके लिए भिन्न-भिन्न ही होंगे। जब इन दोनोंका मेल बैठ जाता है, तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ, ऐसा न हो जाये, इसलिए शास्त्रकारोंने दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमें बाहरसे तप और भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप व्यर्थ चला जाता है। जिस भावनासे मैं तप कर रहा हूं, वह भावना अंदर सतत जलती रहनी चाहिए। 'उपवास' शब्दका अर्थ ही है, भगवानके पास बैठना। परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, इसके लिए बाहरी भोगोंका दरवाजा बंद करनेकी जरूरत है। परंतु बाहरसे विषयभोगोंको छोड़कर यदि मनमें भगवानका चिंतन न किया जाये, तो फिर इस बाहरी उपवासकी क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोंका ही चिंतन करते रहें, तो फिर वह बड़ा भयंकर भोजन हो जायेगा। यह जो मानसिक भोजन, मनमें विषयोंका चिंतन, उससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्रके साथ मंत्र होना चाहिए। केवल बाह्य तंत्रका कोई महत्त्व नहीं। केवल कर्महीन

मंत्रका भी कोई महत्त्व नहीं। हाथमें भी सेवा हो और हृदयमें भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

5. यदि बाह्य कर्ममें हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण सूखा रह जायेगा। उसमें निष्कामतारूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। मान लो, हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरूकी, परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमें दयाभाव न हो, तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी और उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ होगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उस सेवामें यदि मनका सहयोग न हो, तो उससे अहंकार पैदा होगा। 'मैं आज उसके काम आया हूं, तो उसे भी मेरे काम आना चाहिए। उसे मेरी तारीफ करनी चाहिए। लोगोंको मेरा गौरव करना चाहिए'— आदि अपेक्षाएं मनमें उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे— "हम इसकी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है!" बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा हो जाता है। उसके ऐसे स्वभावसे वह सेवक, जिसके मनमें सच्चा सेवा-भाव नहीं होगा, ऊब जायेगा।

6. कर्मके साथ जब आंतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बातीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ कि निष्कामता आती है। बारूदमें बत्ती लगानेसे धड़ाका होता है। उस बारूदमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म बंदूककी बारूदकी तरह है। उसमें विकर्मकी बत्ती लगी कि काम बना। जब तक विकर्म आकर नहीं मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्मकी चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस कर्ममें जो सामर्थ्य पैदा होता है, वह अवर्णनीय है। चिमटीभर बारूद जेबमें पड़ी रहती है, हाथमें उछलती रहती है, पर जहां उसमें बत्ती लगी कि शरीरकी धज्जियां उड़ीं। स्वधर्माचरणका अनंत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्मको जोड़िए, फिर देखिए क्या चमत्कार होते हैं! उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोध भस्म हो जायेंगे और उसमेंसे उसपरम ज्ञानकी निष्पत्ति होगी।

7. कर्म ज्ञानका ईंधन है। लकड़ीका बड़ा-सा कुंदा कहीं पड़ा हो, उसे आप जलाइये। वह अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आगमें कितना अंतर

है! परंतु उस लकड़ीकी ही वह आग होती है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे कर्म दिव्य दिखायी देने लगता है। मां बच्चेकी पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। परंतु इस एक मामूली कर्मसे उन मां-बेटेके मनमें जो भावनाएं उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा ? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगे कि इतनी लंबी-चौड़ी पीठ पर इतने वजनका एक मुलायम हाथ घुमानेसे वह आनंद उत्पन्न होगा; तो वह एक मजाक ही होगा। हाथ फिरानेकी वह नगण्य क्रिया, परंतु उसमें मांका हृदय उंड़ेला हुआ है। विकर्म उंड़ेला हुआ है, इसीसे यह अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। तुलसी-रामायणमें एक प्रसंग है। राक्षसोंसे लड़कर बंदर आते हैं। वे जख्मी हो गये हैं। बदनसे खून टपक रहा है। परंतु प्रभु रामचंद्रके एक बार प्रेमपूर्वक दृष्टिपात करनेभरसे उन बंदरोंकी वेदना मिट जाती है— **राम कृपा करि चितवा सबही। भए बिगतश्रम बानर तबही॥** अब यदि किसी दूसरे मनुष्यने, रामकी उस समय आंख कितनी खुली थी, इसका फोटो लेकर किसीकी ओर उसी प्रकार देखा होता, तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता ? वैसा करनेका यत्न हास्यास्पद है।

8. कर्मके साथ जब विकर्मका जोड़ मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे 'अकर्म' निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना बड़ा लकड़ीका कुंदा, अंतमें चिमटीभर बेचारी राख रह जाती है उसकी! खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिए और सारे बदन पर मलिए। इस तरह कर्ममें विकर्मकी ज्योति लगानेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहां लकड़ी और कहां राख! **कः केन संबंधः!** उनके गुण-धर्मोंमें अब बिलकुल साम्य नहीं रह गया। परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ीके कुंदेकी ही है।

9. कर्ममें विकर्म उंड़ेलनेसे अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्ता रहते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। मां बच्चेको पीटती है, इसलिए तुमभी उसे पीटकर देखो! तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। मां मारती है, फिर भी वह उसके आंचलमें मुंह छिपाता है, क्योंकि मांके बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना निष्काम

भावसे है। उस कर्ममें उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण, कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। रामकी वह दृष्टि, आंतरिक विकर्मके कारण केवल प्रेम-सुधा-सागर हो गयी थी; परंतु रामको उस कर्मका कोई श्रम नहीं था। चित्त-शुद्धिसे किया हुआ कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य बाकी नहीं रहता। नहीं तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर, हमारी बुद्धि और हृदय पर पड़ता है। यदि ऐसी खबर अभी दो बजे आये कि कल सारे राजनैतिक कैदी छूटनेवाले हैं, तो फिर देखो, कैसी हलचल मच जाती है! चारों ओर धूमधाम शुरू हो जायेगी। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे व्यग्र रहते हैं। कर्म हमें चारों ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबायी है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमें धंसकर खाड़ियां बना देता है, उसी तरह कर्मका यह जंजाल चित्तमें घुसकर क्षोभ पैदा कर देता है। सुख-दुःखके द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शांति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया; परंतु उसका वेग बाकी बचा ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परंतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दें, तो फिर चाहे जितने कर्म करें, उनका श्रम नहीं मालूम होता। मन ध्रुवकी तरह शांत, स्थिर और तेजोमय बना रहता है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

16. अकर्मकी कला संतोंसे पूछें

10. यह कर्मका अकर्म कैसे होता है ? यह कला किसके पास देखनेको मिलेगी ? संतोंके पास। इस अध्यायके अंतमें भगवान कहते हैं— "संतोंके पास जाकर बैठो और उनसे शिक्षा लो।" कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमें भाषा समाप्त हो जाती है। उसकी पूरी कल्पना कर पानेके लिए संतोंके चरणोंमें बैठना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है **शांताकारं भुजगशयनम्**। परमेश्वर हजार फनोंके शेषनाग पर सोते हुए भी शांत हैं। इसी तरह संत हजारों कर्म करते हुए भी रत्तीभर क्षोभ-तरंग अपने मानस-सरोवरमें नहीं उठने देते। यह खूबी संतोंके पास गये बिना समझमें नहीं आ सकती।

11. आजके जमानेमें पुस्तकें बहुत सस्ती हो गयी हैं। एक-एक, दो-दो आनेमें गीता, 'मनाचे श्लोक'[१] आदि मिल जाते हैं। गुरुओंकी भी कमी नहीं। शिक्षा उदार और सस्ती है। विद्यापीठ ज्ञानकी खैरात बांटते हैं। परंतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नहीं आती। पुस्तकोंके इस अंबारको देखकर संत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा महसूस हो रही है। पुस्तकोंकी मजबूत कपड़ेकी जिल्दके बाहर ज्ञान आता नहीं। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाता है— **काम क्रोध आड पडिले पर्वत। राहिला अनंत पैलीकडे॥** 'काम-क्रोधके पहाड़ रास्तेमें खड़े हैं। भगवान उनके उस पार है।'

काम-क्रोधरूपी पहाड़ोंके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोंकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपकर बैठा है। पुस्तकालयों और ग्रंथालयोंकी भरमार होने पर भी अबतक मनुष्य सब जगह संस्कारहीन और ज्ञानहीन बंदर जैसा दिखायी देता है। बड़ौदामें बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बड़ी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थे। उसमें तस्वीरें थीं। वे उसे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अंग्रेजी पुस्तक है। मैंने पूछा— "कौन-सी पुस्तक है ?" उन्होंने पुस्तक आगे बढ़ा दी। मैंने कहा— "यह तो फ्रेंच है", तो उन्होंने कहा— "अच्छा, फ्रेंच आ गयी ?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढ़िया तस्वीरें, सुंदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी!

12. अंग्रेजीमें हर साल कोई दस हजार नयी किताबें तैयार होती हैं। यही हाल दूसरी भाषाओंका समझिए। ज्ञानका इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है ? कोई कहता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो गयी है। कोई कहता है, एकाग्रता नहीं सधती। कोई कहता है, जो भी पढ़ते हैं, सच ही मालूम होता है। कोई कहता है, अजी, विचार करनेको फुरसत ही नहीं मिलती! श्रीकृष्ण कहते हैं— "अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनकर चक्करमें पड़ी तेरी बुद्धि जब तक स्थिर नहीं होगी, तब तक तुझे योगप्राप्ति नहीं हो सकती। सुनना और पढ़ना अब बंद करके संतोंकी शरण ले! वहां जीवन-ग्रंथ पढ़नेको मिलेगा। वहांका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-संशय' हो जायेगा। वहां जानेसे

१. समर्थ रामदासकृत मराठी पुस्तक

तुझे मालूम हो जायेगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी हम अत्यंत शांत कैसे रहें; और बाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमें अखंड संगीतकी सितार कैसे मिलायी जा सकती है।''

रविवार, 13-3-32

पांचवां अध्याय

दुहरी अकर्मावस्था : योग और संन्यास

17. बाह्य कर्म मनका दर्पण

1. संसार बड़ा भयानक है। बहुत बार उसे समुद्रकी उपमा दी जाती है। समुद्रमें जहां देखिए, पानी-ही-पानी दिखायी देता है। वही हाल संसारका है। संसार सर्वत्र भरा हुआ है। यदि कोई व्यक्ति घरबार छोड़कर सार्वजनिक सेवामें लग जाता है, तो वहां भी उसके मनमें संसार अपना अड्डा जमाये बैठा मिलता है। कोई यदि गुफामें जाकर बैठ जाये, तो भी उसकी बित्तेभर लंगोटीमें संसार ओतप्रोत रहता है। वह लंगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही उस छोटी-सी लंगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-प्रपंच छोड़ा, विस्तार कम किया, तो इतनेसे संसार कम नहीं हो गया। 10/25 कहो या 2/5 कहो, दोनोंका मतलब एक ही है। चाहे घरमें रहो या वनमें, आसक्ति तो पास ही रहती है। संसार लेशमात्र भी कम नहीं होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामें जाकर बैठ जायें, पर वहां भी एक-दूसरेकी कीर्ति उनके कानोंमें जा पड़े, तो वे जल-भुन जायेंगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें भी ऐसा ही दृश्य दिखायी देता है।

2. इस प्रकार यह संसार हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा है, जिससे स्वधर्माचरणकी मर्यादामें रहते हुए भी संसारसे पिंड नहीं छूटता। बहुतेरा उखाड़-पछाड़ करना छोड़ दिया और झंझटें भी कम कर दीं, अपना संसार-प्रपंच भी छोटा कर दिया, तो भी वहां पूरा ममत्व भरा रहता है। राक्षस जैसे कभी छोटे

हो जाते तो कभी बड़े, वही हाल इस संसारका है। छोटे हों या बड़े, आखिर वे हैं तो राक्षस ही! चाहे महलोंमें हो या झोपड़ीमें, दुर्निवारत्व एक-सा ही है। स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसार-प्रपंचको मर्यादित रखा, तो भी वहां अनेक झगड़े पैदा हो जायेंगे और आपका जी वहांसे ऊब उठेगा। वहां भी अनेक संस्थाओं और अनेक व्यक्तियोंसे आपका संबंध आयेगा और आप त्रस्त हो जायेंगे। लगेगा, 'कहां इस आफतमें आ फंसे!' लेकिन आपका मन कसौटी पर भी तभी चढ़ेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नहीं आ जाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना ही अलिप्त होना नहीं है।

3. फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो ? उसके लिए मनोमय प्रयत्न जरूरी है। मनका सहयोग जब तक न हो, तब तक कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। मां-बाप किसी संस्थामें अपना लड़का भेज देते हैं। वह वहां सबेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है, चाय नहीं पीता। परंतु घर आते ही दो-चार दिनोंमें वह सब-कुछ छोड़ देता है; ऐसे अनुभव हमें आते हैं। मनुष्य कोई मिट्टीका ढेला तो है नहीं। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते हैं, वह उसके मनमें बैठना तो चाहिए न ? मन यदि वह आकार स्वीकारता नहीं, तो कहना होगा कि बाहरकी वह सारी तालीम व्यर्थ गयी, इसलिए साधनामें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

4. साधनके रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण और भीतरसे मनका विकर्म, दोनों बातें चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नहीं होती। प्रातःकालके प्रशांत समयमें हमें अपना मन अत्यंत शांत मालूम होता है। परंतु बच्चेको जरा रोने दो, उस मनःशांतिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अतः बाह्य कर्मको टालनेसे काम नहीं चलेगा। ऐसे कर्मोंसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिए, तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अंतःसरोवरमें घुटनेभर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह ऊपर आ जाती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया। तो यह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया ? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता, तो वह बाहर

दिखायी ही न देता।

लोग कहते हैं— "सफेद खादी नहीं चाहिए, वह मैली हो जाती है। रंगीन खादी मैली नहीं होती।" मैली तो वह भी होती है। हां, दिखायी नहीं देती। सफेद खादीका मैल दीख जाता है। वह कहती है— "मैं मैली हूं, मुझे धोओ।" यह मुंहसे बोलनेवाली खादी लोगोंको पसंद नहीं आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी हैं, स्वार्थी हैं या और कुछ हैं। कर्म वह दर्पण है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अत: हमें कर्मका आभार मानना चाहिए। दर्पणमें यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखायी दे, तो क्या हम उसे फोड़ डालेंगे ? नहीं, उलटा उसका आभार मानेंगे। मुंह धो-धाकर फिर उसमें चेहरा देखेंगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका गंदगी-कचरा बाहर आता है, तो क्या इसलिए हम कर्म टालेंगे ? कर्मको टालनेसे क्या हमारा मन निर्मल हो जायेगा ? अत: कर्म करते रहें और निर्मल होनेका उत्तरोत्तर प्रयत्न करते रहें।

5. कोई मनुष्य गुफामें जा बैठता है। वहां उसका किसीसे भी संपर्क नहीं आता। वह समझने लगता है कि अब मैं बिलकुल शांतमति हो गया। परंतु गुफा छोड़कर उसे किसीके यहां भिक्षा मांगने जाने दीजिए। वहां कोई छोटा बच्चा दरवाजेकी सांकल बजाता है। वह बाल-ब्रह्म तो उस नाद-ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है, परंतु उस निष्पाप बच्चेका वह सांकल बजाना उस योगीको सहन नहीं होता। वह कहता है— "बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है!" गुफामें रहकर उसने अपने मनको इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नहीं होता। जरा खट-खट हुई कि बस, उसकी शांति डिगने लगती है। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नहीं।

6. सारांश यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बड़े कामकी चीज है ? जब दोष दिखायी देंगे, तो वे दूर भी किये जा सकेंगे। यदि दोष मालूम ही न हो, तो प्रगति रुकी, विकास समाप्त। कर्म करेंगे तो दोष दिखायी देंगे। उन्हें दूर करनेके लिए विकर्मकी योजना करनी पड़ती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगेंगे, तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त

कैसे रहें, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहें, यह बात यथासमय समझमें आ जायेगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न हो, तो फिर आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एकके बाद एक सहज भावसे होने लगते हैं, तो फ़िर यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है, तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही 'अकर्म' कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। कर्म 'अकर्म' कैसे होता है, सो संत-चरणोंमें बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवानने चौथे अध्यायके अंतमें बता दिया है। इस अकर्म-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

18. अकर्म-दशाका स्वरूप

7. कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचय का एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितना कष्ट होता है। किंतु हमें उसकी इस लीलासे आनंद होता है। हम कहते हैं— 'देखो, लल्ला चलने लगा।' परंतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है और बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके संबंधमें है। हम छोटे बच्चेका अन्नप्राशन करते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो। परंतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है, तो कितना कष्ट होता है! शुरूमें उसे तैरने से थकान आती है, पर बादमें जब वह दूसरा श्रम करके थक जाता है, तो कहता है 'चलो, जरा तैर आयें तो थकान निकल जाये।' अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यों ही सहज भावसे पानी पर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब उन कर्मोंमें फंसा रहता है तब श्रम मालूम होता है, परंतु कर्म जब सहज होने लगते हैं, तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

8. कर्मका अकर्म हो जाये यही हमारा ध्येय है। इसके लिए स्वधर्माचरणरूपी कर्म करने हैं। उन्हें करते हुए दोष नजर आयेंगे, जिन्हें दूर करनेके लिए विकर्मका पल्ला पकड़ना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममें त्रास या कष्ट बिलकुल नहीं मालूम होता। हजारों कर्म हाथोंसे होते

रहने पर भी मन निर्मल और शांत रहता है। आप आकाशसे पूछिए— "भाई आकाश, तुम गर्मीमें झुलसते होगे, वर्षामें भीगते होगे और सर्दीमें ठिठुरते होगे!" तो वह क्या जवाब देगा ? वह कहेगा— "मुझे क्या होता है, इसका फैसला तुम करो, मैं कुछ नहीं जानता।" **पिसें नेसलें कां नागवें। हें लोकीं येऊनि जाणावें**— 'पागल नंगा है या कपड़े पहने है, इसका फैसला लोग करें। पागलको इसका भान नहीं।'

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरणसंबंधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते स्वाभाविक हो जाते हैं। बड़े-बड़े विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। कर्मयोगकी यह कुंजी है। कुंजी न हो तो तालेको तोड़ते-तोड़ते हाथोंमें छाले पड़ जायेंगे। परंतु कुंजी हाथ लग जाने पर पलभरमें सब-कुछ खुल जायेगा। कर्मयोगकी इस कुंजीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते हैं। यह कुंजी मनोजयसे मिलती है। अत: मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखायी दें, उन्हें धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोंकी झंझट नहीं मालूम होती। कर्मका अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते हैं। क्लेशोंका अनुभव तक नहीं होता। कर्मका भी भान बाकी नहीं रहता।

9. एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा— "अमुक संख्यामें राम-नामका जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।" वह बेचारा अपनी बुद्धिके अनुसार प्रयास कर रहा था। मैं उसका दोष नहीं बता रहा हूं। परंतु राम-नाम कोई गिनतीकी चीज नहीं है। मां बच्चेकी सेवा करती है, तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है ? यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगे, तो 'थैंक यू' कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेंगे। परंतु माता रिपोर्ट नहीं लिखती। वह तो कहती है— "मैंने क्या किया ? मैंने कुछ नहीं किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है ?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उंड़ेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म ही नहीं रहता, अकर्म हो जाता है। वहां क्लेश, कष्ट, झंझट कुछ नहीं रहता।

10. इस स्थितिका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक धुंधली-सी कल्पना

करायी जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह भाव आता है कि अब मैं अंधेरा मिटाऊंगा, पंछियोंको उड़नेकी प्रेरणा दूंगा, लोगोंको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूंगा ? वह उगता है, खड़ा रहता है। उसका वह अस्तित्व ही विश्वको गति देता है। परंतु सूर्यको उसका पता नहीं। आप यदि सूर्यसे कहेंगे— "हे सूर्यदेव, आपके अनंत उपकार हैं, आपने कितना अंधेरा दूर कर दिया।" तो वह चक्करमें पड़ जायेगा। कहेगा— "जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका, तो कहूँगा कि यह मेरा कर्तृत्व है।" क्या सूर्यके पास अंधेरा ले जाया जा सकेगा ? सूर्यके अस्तित्वसे अंधकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रंथ भी पढ़ता होगा, तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ़ता होगा; कोई आग लगाता होगा, तो कोई किसीका भला करता होगा। परंतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नहीं है। सूर्य कहता है— "प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा, तो फिर होगा क्या ? मैं जानता ही नहीं कि मैं प्रकाश दे रहा हूं। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देनेकी क्रियाका कष्ट मैं नहीं जानता। मुझे नहीं लगता कि मैं कुछ कर रहा हूं।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है वैसा ही हाल संतोंका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी पुरुषसे कहें कि "आप महात्मा सत्यवादी हैं" तो वह कहेगा— "मैं सत्य पर न चलूं तो और करूं क्या ? मैं विशेष क्या करता हूं ?" ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नहीं सकती।

11. अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक और स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम नहीं पड़ता। इंद्रियां उनकी सहज आदी हो जाती हैं। **सहज बोलणें हित उपदेश**— 'सहज बोलना ही हित उपदेश हो जाता है।' जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। चहचहाते रहना पक्षियोंका सहज धर्म है। मांकी याद आना बच्चोंका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना संतोंका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकडू-कूं' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरोंका ज्ञान कराते हुए भगवान पाणिनिने मुर्गेकी बांगका उदाहरण दिया

है। पाणिनिके समयसे आजतक मुर्गा सुबह बांग देता है। पर क्या इसके लिए उसे किसीने मानपत्र अर्पित किया है ? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका दोष न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोंके कर्म सहज रूपसे होते रहते हैं। उन्हें किये बिना वे जिंदा नहीं रह सकते। किसीने भोजन किया, तो क्या हम उसका गौरव करते हैं ? खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकोंके सहज कर्म हैं, वैसे ही सेवाकर्म ज्ञानियोंके लिए सहज कर्म है। उपकार करना ज्ञानीका स्वभाव हो जाता है। ज्ञानी यदि कहे कि 'मैं उपकार नहीं करूंगा', तो उसके लिए वह असंभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुषका वह कर्म अकर्मदशाको पहुंच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गयी है। संन्यास ही परम धन्य अकर्म-दशा है। इस दशाको 'कर्मयोग' भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है, परंतु करते हुए भी कर रहा है ऐसा नहीं लगता, इसलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नहीं लगता, इसलिए वह 'योग' है; और करके भी कुछ नहीं किया, इसलिए वह 'संन्यास' है।

19. अकर्मका एक पहलू : योग

12. 'संन्यास' की कल्पना क्या है ? कुछ कर्म छोड़ना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या ? नहीं। मूलतः संन्यासकी व्याख्या ही है— "सब कर्मोंको छोड़ना।" सब कर्मोंसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना संन्यास है। परंतु कर्म न करनेका अर्थ क्या ? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे ? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया ही हुई न ? 'बैठना' यह क्रियापद है। केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टिशास्त्रमें भी 'बैठना' क्रिया ही है। सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते हैं। बैठनेमें भी श्रम तो है ही। जहां न करना भी कर्म सिद्ध होता है वहां कर्म-संन्यास हो भी कैसे ? भगवानने अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया। सर्वत्र फैला हुआ वह विश्वरूप देखकर अर्जुन डर गया और घबराकर उसने आंखें मूंद लीं। परंतु आंखें मूंदकर देखा, तो वह भीतर भी दिखायी देने लगा। अब आंख मूंद लेने पर भी जो दीखता है, उससे कैसे बचा जाये ? न

करनेसे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाये ?

13. एक मनुष्यकी बात है। उसके पास सोनेके अनेक बहुमूल्य गहने थे। वह उन्हें एकबड़े संदूकमें बंद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बड़ा-सा लोहेका संदूक बनवा लाया। उसे देखकर उसने कहा— "तू कैसा बेवकूफ है रे गंवार! तुझे सुंदरताकी कोई कल्पना भी है क्या ? ऐसे बेशकीमती जेवर रखने हैं, तो क्या भद्दे लोहेके संदूकमें रखे जायेंगे ? जा, अच्छा सोनेका संदूक बनवाकर ला!" नौकर सोनेका संदूक बनवा लाया। "अब ताला भी सोनेका ही ले आ। सोनेके संदूकमें सोनेका ही ताला फबेगा।" वह व्यक्ति गया था जेवरको छिपाने, उसे ढांककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला ? चोरोंको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नहीं रही। संदूक उड़ाया और काम बना। सारांश यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास कैसे किया जाये ?

14. ऐसे कर्मोंका संन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी युक्ति साधी जायें, जिससे दुनियाभरके कर्म करते हुए भी वे सब गल जायें। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते हैं कि 'संन्यास' प्राप्त हुआ। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर हैं कैसी ? सूर्यके जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा हैं। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्धमें काम करता रहता है। परंतु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसीलिए चौथे अध्यायमें भगवान कहते हैं, "मैंने यह योग पहले सूर्यको सिखाया। फिर विचार करनेवाले, मनन करनेवाले मनुने सूर्यसे इसे सीखा।" चौबीस घंटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र कर्म नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह स्थिति सचमुच अद्भुत है।

20. अकर्मका दूसरा पहलू : संन्यास

15. परंतु यह तो संन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नहीं करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू है। उसमें अपरंपार प्रेरक शक्ति है। अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्ममें अनंत

कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न ? भापको रोककर रखिए, वह कितना प्रचंड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमें अपार शक्ति आ जाती है। वह बड़े-बड़े जहाज और रेल-गाड़ियोंको बात-की-बातमें खींच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेश-मात्र भी कर्म नहीं करता, परंतु चौबीस घंटे लगातार काम करता है। उससे पूछेंगे तो वह कहेगा— "मैं कुछ नहीं करता।" रात-दिन कर्म करते हुए न करना जैसे सूर्यका एक प्रकार हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना, यह दूसरा प्रकार हुआ। संन्यास इन दोनों प्रकारोंसे विभूषित होता है।

दोनों असाधारण हैं। एक प्रकारमें कर्म प्रकट है और अकर्मावस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमें अकर्मावस्था प्रकट दिखायी देती है, परंतु उसकी बदौलत अनंत कर्म होते रहते हैं। इस अवस्थामें अकर्ममें कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचंड कार्य होता है। इस अवस्थाको प्राप्त मनुष्यमें और आलसीमें बड़ा अंतर है। आलसी मनुष्य थकेगा, ऊबेगा। लेकिन यह अकर्मी संन्यासी कर्म-शक्तिको रोक रखता है। लेशमात्र भी कर्म नहीं करता। वह हाथ-पांवसे, किसी इंद्रियसे कोई कर्म नहीं करता। परंतु कुछ न करते हुए भी वह अनंत कर्म करता है।

16. किसी मनुष्यको गुस्सा आ गया। यदि हमारी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलना छोड़ देता है। उसके न बोलनेका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है। दूसरा फटाफट बोल देगा। दोनों हैं तो गुस्सेमें ही, परंतु एक चुप है, दूसरा बड़बड़ाता है। दोनों हैं गुस्सेके ही प्रकार। न बोलना, यह भी क्रोधका ही एक रूप है। उससे भी कार्य होता है। मां या बापने बच्चेसे बोलना बंद कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचंड होता है! उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उसका इतना परिणाम नहीं हो सकता था। उस न बोलनेका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषकी ऐसी ही स्थिति होती है। उसका अकर्म ही, उसका खामोश बैठना ही, प्रचंड कर्म करता है, प्रचंड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह

इतने कर्म करता है कि वे सब क्रियाके द्वारा प्रकट ही नहीं हो सकते। इस तरह यह संन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे संन्यासीकी सारी प्रवृत्तियां, उसके सारे उद्योग एक आसन पर आकर बैठ जाते हैं।

उद्योगाची थांव बैसली आसनीं, पडिलें नारायणीं मोटळें हें।
सकळ निश्चिंती झाली हा भरंवसा, नाहीं गर्भवासा येणें ऐसा॥
आपुलिये सत्ते नाहीं आम्हां जिणें, अभिमान तेणें नेला देवें।
तुका म्हणे चळे एकाचिये सत्ते, आपुलें मी रितेपणें असें॥

[उद्योगकी भाग-दौड़ शांत होकर आसनस्थ हो गयी है। नारायणके चरणोंमें यह गठरी पड़ी है। मैं पूर्णतः निश्चिंत हो गया हूं। यह विश्वास हो गया है कि अब मेरा गर्भवास छूट गया। मैं अब अपनी अहंतासे नहीं जीता। भगवानने मेरा यह अभिमान छीन लिया है। तुकाराम कहता है कि अब सब उसकी ही सत्तासे चल रहा है। मैं अब शून्य— रिक्त बन गया हूं।]

तुकाराम कहते हैं— ''मैं अब खाली हो गया हूं। गठरी होकर पड़ा हूं। सब उद्योग समाप्त हो गये।'' तुकाराम खाली हो गये, परंतु उस खाली बोरेमें प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य खुद आवाज नहीं लगाता, परंतु उसके उगते ही पंछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते हैं, गायें वनमें चरने जाती हैं, व्यापारी दूकान खोलते हैं, किसान खेत पर जाते हैं, संसारके नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य केवल है, उतनेसे ही अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं। इस अकर्मावस्थामें अनंत कर्मोंकी प्रेरणा, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह संन्यासका दूसरा अद्भुत प्रकार है।

21. दोनोंकी तुलना शब्दोंसे परे

17. पांचवें अध्यायमें संन्यासके दो प्रकारोंकी तुलनाकी गयी है। एक चौबीसों घंटे कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा क्षणभर भी कुछ न करके सबकुछ करता है। एक बोलकर न बोलनेका प्रकार, तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोंकी यहां तुलनाकी गयी है। ये जो दो दिव्य प्रकार हैं, उनका अवलोकन करें, विचार करें, मनन करें। इसमें अपूर्व आनंद है।

18. यह विषय ही अपूर्व और उदात्त है। सचमुच संन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र और भव्य है। जिस किसीने यह विचार, यह कल्पना पहले-पहल खोज निकाली, उसे जितने धन्यवाद दिये जायें, थोड़े हैं। यह बड़ी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊंची उड़ानें भरी हैं, उन सबमें ऊंची उड़ान इस संन्यास तक पहुंची है। इससे आगे अभी तक कोई उड़ान नहीं भर सका। उड़ान भरना तो जारी है, परंतु मुझे पता नहीं कि विचार और अनुभवमें इतनी ऊंची उड़ान किसीने भरी हो। इन दो प्रकारोंसे युक्त संन्यासकी केवल कल्पना ही आंखोंके सामने आनेसे अपूर्व आनंद होता है। किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्में जब आते हैं, तब वह आनंद कम हो जाता है। जान पड़ता है, नीचे गिर रहे हैं। मैं अपने मित्रोंसे इसके विषयमें हमेशा कहता रहता हूं। आज कितने ही वर्षोंसे मैं इन दिव्य विचारोंका मनन कर रहा हूं। यहां भाषा अधूरी पड़ती है। शब्दोंकी श्रेणीमें यह आता ही नहीं।

19. न करके सबकुछ कर डाला और सबकुछ करके भी लेशमात्र नहीं किया— कितनी उदात्त, रसमय और काव्यमय कल्पना है यह! अब काव्य और क्या बाकी रहा ? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है, वह सब इस काव्यके आगे फीका है। इस कल्पनामें जो आनंद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति और जो दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमें नहीं। इस तरह यह पांचवां अध्याय ऊंची— बड़ी ऊंची— भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्याय तक कर्म, विकर्म बताकर यहां बहुत ही ऊंची उड़ान भरी है। यहां अकर्मदशाके दो प्रकारोंकी प्रत्यक्ष तुलना हीकी है। यहां भाषा लड़खड़ाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्मसंन्यासी श्रेष्ठ ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहना संभव ही नहीं है। सब करके भी कुछ न करना और कुछ भी न करते हुए सब-कुछ करना, ये दोनों योग ही हैं; परंतु तुलनाके लिए एकको 'योग' कहा है, दूसरेको 'संन्यास' ।

22. भूमिति और मीमांसकोंका दृष्टांत

20. अब इनकी तुलना कैसेकी जाये ? इसके लिए उदाहरणोंसे ही काम लेना पड़ेगा। जब उदाहरण देने जाते हैं, तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे हैं। परंतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिए तो पूर्ण कर्मसंन्यास अथवा पूर्ण कर्मयोग,

ये कल्पनाएं ऐसी हैं, जो इस शरीरमें नहीं समा सकतीं। वे इस देहको फोड़ डालेंगी। परंतु जो महापुरुष इन कल्पनाओंके नजदीक तक पहुंच गये हैं, उनके उदाहरणसे हमें काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले हैं, परंतु थोड़ी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण हैं।

21. रेखा-गणितमें कहते हैं कि 'कल्पना' करो, 'अ ब क' एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करें ? क्योंकि इस त्रिकोणकी रेखाएं यथार्थ रेखाएं नहीं हैं। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि उसमें लंबाई है, पर चौड़ाई नहीं। श्यामपट्ट पर बिना चौड़ाईके यह लंबाई दिखायी कैसे जाये ? लंबाई जहां आयी, वहां चौड़ाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खींचेंगे, उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमें रेखा 'माने' बिना काम ही नहीं चलता। भक्ति-शास्त्रमें क्या ऐसी ही बात नहीं है ? वहां भी भक्त कहता है— "इस छोटी-सी शालग्रामकी बटियामें अखिल ब्रह्मांडका स्वामी है, यह 'मानो'।" यदि कोई कहे— "यह क्या पागलपन है।" तो उससे कहो— "तुम्हारी यह भूमिति क्या पागलपन नहीं है ? सर्वथा स्पष्ट मोटी रेखा दिखायी पड़ती है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाईकी मानो। यह कैसा पागलपन है! खुर्दबीनसे देखोगे, तो वह आधी इंच चौड़ी दिखायी देगी।"

22. जैसे तुम अपनी भूमितिमें मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि इस "शालग्राममें परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायेगा, लगाऊं एक चोट ?" तो यह समझदारी नहीं कही जायेगी; क्योंकि जब भूमितिमें 'मानो' चलता है, तो भक्ति-शास्त्रमें क्यों न चलना चाहिए ? बिंदुको कहते हैं, 'मानो' और श्यामपट्ट पर बिंदु (प्रत्यक्ष) बनाते हैं। बिंदु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिंदुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी व्याख्या है। बिंदुको न लंबाई, न चौड़ाई, न मोटाई कुछ भी नहीं। किंतु व्याख्या ऐसी करते हुए उसे तख्ते पर बनाकर दिखाते हैं। बिंदु तो वास्तवमें अस्तित्वमात्र है, त्रि-परिणामरहित है। सारांश यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिंदु व्याख्यामें ही रहते हैं, परंतु हमें उसे मानकर चलना पड़ता है। भक्ति-शास्त्रमें भी शालग्राममें न टूटने-फूटनेवाला सर्वव्यापी परमेश्वर मानना पड़ता है।

हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टांत लेकर इनकी तुलना करेंगे।

23. मीमांसकोंने तो बड़ा मजा ही किया है। परमेश्वर कहां है— इसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने बड़ा सुंदर निरूपण किया है। वेदोंमें इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं। इन देवताओंका विचार मीमांसामें करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है— "यह इंद्र कैसा है ? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहां है ?" मीमांसक उत्तर देते हैं—'इन्द्र' शब्द ही इन्द्रका रूप है। 'इन्द्र' शब्दमें ही वह रहता है। 'इ' और उसपर 'अनुस्वार', फिर 'द्र'— यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्ति, वही प्रमाण। वरुण देवता कैसा ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण— यह है वरुणका रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओंके विषयमें समझिए। ये सारे देवता अक्षररूपधारी हैं। देवता सब अक्षर-मूर्ति हैं, इस कल्पनामें— इस विचारमें बड़ी मिठास है। देव यह कल्पना, यह वस्तु आकारमें न समाने जैसी है। उस कल्पनाको दर्शानेके लिए अक्षर, यही एक चिह्न पर्याप्त होगा। ईश्वर कैसा है ? तो 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र '। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक संज्ञा ही बना दी। ऐसी संज्ञाएं बनानी पड़ती हैं, क्योंकि मूर्तिमें, आकारमें ये विशाल कल्पनाएं समा ही नहीं सकतीं। परंतु मनुष्यकी इच्छा बड़ी प्रचंड होती है। वह इन कल्पनाओंको मूर्तिमें बैठानेका प्रयत्न करता ही है।

23. संन्यासी और योगी एक ही : शुक-जनकवत्

24. संन्यास और योग, ये बहुत ऊंची उड़ानें हैं। पूर्ण संन्यास और पूर्ण योगकी कल्पना इस देहमें नहीं समा सकती। भले ही देहमें ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचारमें जरूर समा जाते हैं। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी तो व्याख्यामें ही रहनेवाले हैं। वे ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे, परंतु उदाहरणके तौर पर ऐसे व्यक्ति लेने होंगे, जो इन कल्पनाओंके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुंच पाये होंगे। फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि इसे 'पूर्ण योगी' और इसे 'पूर्ण संन्यासी' समझो। संन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते हैं। इधर कर्मयोगीके रूपमें जनक और श्रीकृष्णका नाम भगवद्गीतामें ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीतारहस्य' में एक नामावली ही दे दी है। "जनक,

श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये; शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।'' परंतु थोड़ा विचार करनेसे यह सूची उसी तरह मिटायी जा सकती है, जैसे भीगे हाथसे लिखा हुआ मिटाया जा सकता है। याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे यानी संन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव संन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यकें शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। संन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी— ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और संन्यास एक ही परंपरामें आ जाते हैं।

25. शुकदेवसे व्यासने कहा— ''बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परंतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुम पर नहीं लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।'' शुकदेव चले। जनक तीसरी मंजिल पर अपने दीवानखानेमें बैठे थे। शुक थे वनवासी। नगर देखते-देखते चले। जनकने शुकदेवसे पूछा— ''क्यों आये ?'' शुकने कहा— ''ज्ञान पानेके लिए।'' ''किसने भेजा ?'' ''व्यासदेव ने।'' ''कहांसे आये ?'' ''आश्रमसे।'' ''आते हुए यहां बाजारमें क्या-क्या देखा ?'' ''चारों तरफ एक ही शक्करकी मिठाई सजी हुई दिखायी दी।'' ''और क्या देखा ?'' ''चलते-बोलते शक्करके पुतले देखे।'' ''फिर क्या देखा ?'' ''यहां आते हुए शक्करकी सख्त सीढ़ियां मिलीं।'' ''फिर क्या मिला ?'' ''शक्करके चित्र यहां भी सर्वत्र देखे।'' ''अब क्या दीख रहा है ?'' ''शक्करका एक पुतला शक्करके दूसरे पुतलेसे बात कर रहा है।'' जनकने कहा— ''जाओ, तुम्हें सब ज्ञान मिल चुका।'' शुकदेवको जनकके हस्ताक्षरका प्रमाणपत्र चाहिए था, वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने संन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया।

शुक है संन्यासी, परंतु प्रसंग देखो कैसा मजेदार है ! परीक्षितको शाप मिला— 'सात दिनमें तुम मर जाओगे।' परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह सिखाये कि मरें कैसे ? उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे तो 24 × 7 = 168 घंटे पलथी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया, सो फिर छोड़ा ही नहीं। लगातार कथा कहते ही रहे। आप कहेंगे, 'इसमें कौन बड़ी बात है ?' बड़ी बात यह कि सतत सात दिन

तक उनसे भारी श्रम कराया गया, फिर भी उन्हें कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नहीं रहे थे। श्रमकी भावना ही वहां नहीं थी। सार यह कि संन्यास और कर्मयोग, दोनों भिन्न हैं ही नहीं।

26. इसलिए भगवान कहते हैं— **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।** संन्यास और योगमें जो एकरूपता देखेगा, उसीने वास्तविक रहस्यको समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नहीं करता। जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसे संन्यासी पुरुषको दस दिन हमारे-आपके बीच आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी! अनेक वर्षों तक कामका ढेर लगाकर भी जो नहीं हुआ होगा, वह केवल उसके दर्शनसे— अस्तित्वमात्रसे— हो जायेगा। फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोंके चित्रोंसे यदि भक्ति, प्रेम और पवित्रता हृदयमें उत्पन्न होती है, तो जीवित संन्यासीको देखनेसे पता नहीं कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ?

27. संन्यासी और योगी, दोनों भी लोकसंग्रह करते हैं। एक जगह बाहरसे कर्मत्याग दिखायी दिया, तो भी उस कर्मत्यागमें कर्म ठसाठस भरा हुआ है। उसमें अनंत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी संन्यासी, और ज्ञानी कर्मयोगी, दोनों एक ही सिंहासन पर बैठनेवाले हैं। संज्ञा भिन्न-भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनों पहलू या प्रकार हैं। यंत्र जब वेगसे घूमता है, तो वह ऐसा दिखायी देता है मानो स्थिर है, घूम ही नहीं रहा। संन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शांतिमें से, स्थिरतामेंसे अनंत शक्ति, अपार प्रेरणा मिलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियां थीं। संन्यासीके सभी उद्योगोंकी दौड़ एक आसन पर आकर स्थिर हो जाये, तो भी वह प्रचंड कर्म करता है। सारांश यह कि योगी ही संन्यासी है और संन्यासी ही योगी है। दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है। शब्द अलग-अलग हैं, पर अर्थ एक ही है। जैसे पत्थरके मानी पाषाण और पाषाण मानी पत्थर है, वैसे ही कर्मयोगीके मानी संन्यासी और संन्यासीके मानी कर्मयोगी है।

24. फिर भी संन्याससे कर्मयोग विशेष माना गया है

28. बात यद्यपि ऐसी है, तथापि भगवानने एक बिंदू चढ़ा ही दिया है। भगवान कहते हैं— "संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है।" जब दोनों ही एक-से हैं, तो फिर भगवान ऐसा क्यों कहते हैं ? इसमें क्या रहस्य है ? जब भगवान कहते हैं कि कर्मयोग श्रेष्ठ है, तब वे साधककी दृष्टिसे कहते हैं। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए ही शक्य है, साधकके लिए नहीं। परंतु सब कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोड़ा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है, जो साधकके लिए शक्य नहीं, सिर्फ सिद्धके लिए ही शक्य है। दूसरी ऐसी है, जो साधकके लिए भी थोड़ी-बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमें नहीं आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए मार्ग भी है और मंजिल भी है, परंतु संन्यास तो आखिरी मंजिल पर ही है, मार्गमें नहीं है। इसी कारण साधककी दृष्टिसे संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

29. इसी न्यायसे भगवानने आगे बारहवें अध्यायमें निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष मान' है। सगुणमें सब इंद्रियोंके लिए काम है, निर्गुणमें ऐसा नहीं है। निर्गुणमें हाथ बेकार, पांव बेकार, आंखें बेकार— सब इंद्रियां कर्मशून्य ही रहती हैं। साधकसे यह सब नहीं सध सकता। परंतु सगुणमें ऐसी बात नहीं है। आंखोंसे रूप देख सकते हैं, कानोंसे कीर्तन सुन सकते हैं, हाथोंसे पूजा कर सकते हैं, लोगोंकी सेवा कर सकते हैं, पांवोंसे तीर्थयात्रा हो सकती है। इस तरह सब इंद्रियोंको काम देकर उनसे वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुणमें शक्य रहता है। परंतु निर्गुणमें सब बंद— जीभ बंद, कान बंद, हाथ-पैर बंद। यह सारा 'बंदी' प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है। फिर उसके चित्तमें निर्गुण पैठेगा कैसे ? वह यदि खामोश बैठा रहेगा, तो उसके चित्तमें ऊटपटांग विचार आने लगेंगे। इंद्रियोंका यह स्वभाव ही है कि उन्हें कहते हैं कि न करो, तो वे जरूर करेंगी। विज्ञापनोंमें क्या ऐसा नहीं होता ? ऊपर लिखते हैं 'मत पढ़ो।' तो पाठक मनमें कहता है कि यह जो न पढ़नेको लिखा है, तो पहले इसीको पढ़ो। 'मत पढ़ो' कहना इसी उद्देश्यसे होता है कि पाठक उसे जरूर

पढ़े। मनुष्य अवश्य ही उसे ध्यानपूर्वक पढ़ता है। निर्गुणमें मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिमें ऐसी बात नहीं। वहां आरती है, पूजा है, सेवा है, भूतदया है, इंद्रियोंके लिए वहां काम है। इन्हीं इंद्रियोंको ठीक काममें लगाकर फिर मनसे कहो— "अब जाओ, जहां जी चाहे।" परंतु तब मन नहीं जायेगा। वहीं रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायेगा। परंतु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थान पर बैठाना चाहोगे, तो वह भागा ही समझो। भिन्न-भिन्न इंद्रियोंको उत्तम, सुंदर काममें लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो। वह नहीं भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो, तो वह कहेगा— "लो, मैं यहीं बैठ गया।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा "मैं यह चला।"

30. देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते हुए भी उसे उड़ा देनेकी युक्ति, कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें सुलभता है। कर्मयोगमें प्रयत्न, अभ्यासके लिए जगह है। सब इंद्रियोंको अपने वशमें करके धीरे-धीरे सब उद्योगोंसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमें किया जा सकता है। यह युक्ति आज न सधी, तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही संन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है। परंतु पूर्णावस्थामें कर्मयोग और संन्यास, दोनों समान ही हैं। पूर्ण संन्यास और पूर्ण कर्मयोग, दोनों एक ही हैं। नाम दो हैं, देखनेमें अलग-अलग हैं, परंतु असलमें दोनों हैं एक ही। एक प्रकारमें कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखायी देता है, परंतु भीतर शांति है। दूसरे प्रकारमें कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है। जैसा दीख पड़ता है, वैसा न होना— यह दोनोंका स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है, तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं, परंतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामें दोनों एक ही हैं।

31. ज्ञानदेवको चांगदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चांगदेवसे ज्ञानदेव उम्रमें छोटे थे। 'चिरंजीव' लिखते हैं तो ज्ञानदेव ज्ञानमें श्रेष्ठ। 'पूज्य' लिखते हैं, तो उम्रमें कम। तब सिरनामा क्या लिखें ? इसका कुछ निश्चय नहीं हो पाता था। अत: चांगदेवने कोरा कागज ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमें पड़ा। उन्होंने उसे पढ़कर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढ़ा

और मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ताबाईने पढ़कर कहा— "चांगदेव इतना बड़ा हो गया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।" निवृत्तिनाथने और ही अर्थ पढ़ा था। उन्होंने कहा— "चांगदेव कोरे हैं, शुद्ध हैं, निर्मल हैं, उपदेश देने योग्य हैं।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने 65 ओवियों [१] का पत्र भेजा। उसे 'चांगदेव-पासष्टी' कहते हैं। ऐसी इस पत्रकी मनोरंजक कथा है। लिखा हुआ पढ़ना सरल है, परंतु न लिखा हुआ पढ़ना कठिन। उसका पढ़ना कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह संन्यासी रीता-कोरा दिखायी दे, तो भी उसमें अपरंपार कर्म भरा रहता है।

32. संन्यास और कर्मयोग, पूर्णरूपमें दोनोंकी कीमत एक-सी है; परंतु कर्मयोगको उसके अलावा व्यावहारिक कीमत ज्यादाकी है। किसी एक नोटकी कीमत पांच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पांच रुपयेका होता है। जब तक सरकार स्थिर है, तब तक दोनोंकी कीमत एक-सी है, परंतु यदि सरकार बदल गयी, तो फिर व्यवहारमें उस नोटकी कीमत एक पाई भी नहीं रहती। मगर सोनेके सिक्के की कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायेगी, क्योंकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामें कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनोंकी कीमत एक-सी है; क्योंकि ज्ञान दोनोंमें है। ज्ञानकी कीमत अनंत है। अनंतमें कुछ भी मिलाओ, कीमत अनंत ही रहती है, गणितशास्त्रका यह सिद्धांत है। कर्मत्याग और कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमें मिल जाते हैं, तो दोनोंकी कीमत बराबर हो जाती है; परंतु ज्ञानको यदि दोनों ओरसे हटा लिया, तो फिर कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनों ओर डाला जाये तो कीमत एक-सी है। मंजिल पर पहुंच जानेपर ज्ञान + कर्म = ज्ञान + कर्माभाव। परंतु ज्ञानको दोनों ओरसे घटा दीजिए तो फिर कर्मके अभावकी अपेक्षा कर्म ही साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधककी समझमें ही नहीं आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमें भी है और मुकाम पर भी है; परंतु संन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्गमें नहीं। यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो, तो कर्मयोग साधन भी है और निष्ठा भी, परंतु संन्यास सिर्फ निष्ठा

१. एक प्रचलित मराठी छंद।

है। निष्ठाका अर्थ है, अंतिम अवस्था।
रविवार, 20-3-32

छठा अध्याय

चित्तवृत्ति-निरोध

25. आत्मोद्धारकी आकांक्षा

1. पांचवें अध्यायमें हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्यकी ऊंची-से-ऊंची उड़ान कहांतक जा सकती है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें, उसमें हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म करना पड़ता है, वह विकर्म, विशेष कर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। आवश्यकता कर्म और विकर्म, दोनोंकी है। इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमें देख लिया कि इस भूमिकामें कर्म और संन्यास, दोनों एकरूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्यायके आरंभमें फिर कहा है कि कर्मयोगकी भूमिका संन्यासकी भूमिकासे अलग दिखायी देने पर भी अक्षरशः एकरूप है। केवल दृष्टिका अंतर है। पांचवें अध्यायमें जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना, यह बादके अध्यायोंका विषय है।

2. कई लोगोंकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रंथ साधुओंके लिए ही हैं। एक गृहस्थने कहा— "मैं कोई साधु नहीं हूं।" इसका अर्थ यह हुआ कि 'साधु' नामके कोई प्राणी हैं, जिनमेंसे वे नहीं हैं। जैसे घोड़े, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी हैं, वैसे ही साधु नामके भी कोई प्राणी हैं और परमार्थकी कल्पना केवल उन्हींके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्‌में रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके हैं उनके विचार अलग, आचार अलग! इस कल्पनाने साधु-संत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी हैं। 'गीता-रहस्य' में तिलकमहाराजने इस बातकी ओर ध्यान खींचा है। 'गीता-

ग्रंथ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोंके लिए है।'— यह उनका कथन मैं अक्षरश: सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसारके लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए हैं। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शांति कैसे प्राप्तकी जाये। व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाये, यह सिखानेके लिए गीता है। जहां-जहां आप व्यवहार करते हैं, वहां-वहां गीता आती है। परंतु वह आपको वहां-की-वहां रखना नहीं चाहती। आपका हाथ पकड़कर वह अंतिम मंजिल तक आपको ले जायेगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आये, तो मुहम्मद पर्वतके पास जायेगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा संदेश जड़ पर्वत तक भी पहुंचे। पर्वत जड़ है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नहीं जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रंथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गंवार-से-गंवार हो गीता उसके पास पहुंच जायेगी। परंतु इसलिए नहीं कि उसे यथास्थान रहने दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड़कर आगे ले जाये, ऊपर उठाये। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीता है।

3. अतएव 'मैं जड़ हूं, व्यवहारी हूं, सांसारिक जीव हूं'— ऐसा कहकर अपने आसपास बाड़ मत लगाओ। मत कहो कि 'मेरे हाथोंसे क्या होगा ? इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही मेरा सार-सर्वस्व है।' ऐसी बंधनोंकी या कारागृह जैसी दीवारें अपने आसपास खड़ी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढ़नेकी, ऊपर चढ़नेकी हिम्मत रखो— **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।** ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर ले जाऊंगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सांसारिक जीव हूं, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पंख काटो मत। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चंडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रात:काल सूर्यको देखकर चंडूल कहता है कि मैं सूर्य तक उड़ जाऊंगा। वैसा ही हमें बनना चाहिए। अपने दुर्बल पंखोंसे चंडूल बेचारा कितना ही ऊंचा उड़े, तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुंचेगा ? परंतु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह सूर्यको अवश्य पा सकता है। हमारा आचरण उससे उलटा होता है। हम जितने ऊंचे

जा सकते थे, उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओं पर प्रतिबंध लगाकर अपने-आपको नीचे गिरा लेते हैं। अपने पास जो शक्ति है, उसे भी हम हीन-भावनाके कारण नष्ट कर डालते हैं। जहां कल्पनाके ही पांव टूट गये, वहां फिर नीचे गिरनेके सिवा क्या गति होगी ? अतः कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढ़ता है, अतः कल्पनाको सिकोड़ मत डालो। **धोपट मार्गा सोडुं नको। संसारामधिं ऐस आपुला उगा च भटकत फिरूं नको**— 'घिसे-पिटे मार्गको मत छोड़ो। संसारमें अपनी जगह चुपचाप पड़े रहो। इधर-उधर व्यर्थ भटका मत करो'— ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्मविश्वास होगा, तभी वह टिक सकेगा। इसीसे उद्धार होगा। परंतु "धर्म तो साधु-संतोंके लिए ही है, साधु-संतोंके पास गये भी तो 'तुम जिस भूमिकामें हो, उसमें यही व्यवहार उचित है "ऐसा उनसे प्रशस्ति-पत्र लेने केलिए"— ऐसी कल्पना छोड़ दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएं करके अपनेको बंधनमें मत डालो। यदि उच्च आकांक्षा नहीं रखोगे, तो कभी भी एक कदम आगे नहीं बढ़ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकांक्षा, यह महान भावना यदि हो, तब तो साधनोंकी उठा-पटक आवश्यक है; नहीं तो फिर सारा किस्सा ही समाप्त। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधनरूपी विकर्म बताया है। कर्मकी सहायताके लिए विकर्म निरंतर चाहिए। इन दोनोंकी सहायतासे अकर्मकी जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है, वह और उसके प्रकार पांचवें अध्यायमें देखे। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गये हैं। मानसिक साधना बतायी गयी है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"हे मेरे जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकांक्षा रखो, मनको मुक्त रखकर उसके पंखोंको सुदृढ़ बनाओ।" साधनाके— विकर्मके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। भक्तियोग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार हैं। छठे अध्यायमें 'ध्यान-योग' नामक साधनाका प्रकार बताया गया है।

26. चित्तकी एकाग्रता

4. ध्यान-योगमें तीन बातें मुख्य हैं— (1) चित्तकी एकाग्रता (2) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (3) साम्यदशा या सम-दृष्टि। इन सब बातोंके बिना सच्ची साधना नहीं हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चंचलता पर अंकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओंका नपा-तुला होना। सम-दृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोंसे ध्यान-योग बनता है। इस त्रिविध साधनाके भी साधन हैं। वे हैं— अभ्यास और वैराग्य। इन पांचों बातोंकी थोड़ी-सी चर्चा हम यहां करें।

5. पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिए। किसी भी काममें चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातोंमें भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहारमें अलग गुणोंकी जरूरत है और परमार्थमें अलग। व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसकी सफलता और असफलता आपकी एकाग्रता पर अवलंबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति— किसीको भी ले लीजिए, इनमें जो कुछ सफलता मिलेगी, वह उन-उन पुरुषोंके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगी। नेपोलियनके लिए कहा जाता है कि जहां वह युद्धकी व्यवस्था एक बार ठीक-ठाक लगा देता कि फिर समर-भूमिमें गणितके सिद्धांत हल किया करता था। डेरों-तंबुओं पर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता। मैं यह नहीं कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बड़ी थी। उससे भी ऊंचे दर्जेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लड़ाईमें जब नमाजका वक्त हो जाता, तो वे वहीं समर-भूमिमें चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढ़ने लगते और उनका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उन्हें यह होश भी न रहता कि किसके आदमी कट रहे हैं। पहलेके मुसलमानोंकी इस परमेश्वर-निष्ठाके ही कारण, इस एकाग्रताके ही कारण, इसलाम धर्म फैल पाया।

6. उस दिन मैंने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर घुस गया। इससे उसे बड़ी वेदना हो रही थी। तीर खींचनेकी चेष्टा करने जाये,

तो हाथ लगाते ही वेदना और बढ़ जाती थी। इससे वह तीर भी नहीं खींचा जा सकता था। आजकी तरह क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नहीं। बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे आकर बोले— "तीर अभी मत निकालो। यह फकीर नमाज पढ़ने बैठेगा, तब निकाल लेंगे।" शामकी नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढ़ने लगा। पलभरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया, तो भी उसे पता नहीं लगा। कैसी जबर्दस्त है यह एकाग्रता!

7. सारांश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना उसमें सफलता मिलना कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा, तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्षके बूढ़े होने पर भी किसी नौजवानकी तरह आपमें उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगा। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापेकी तरफ बढ़े, त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फलको ही देखिए न! पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है, गलता है और मिट जाता है; परंतु उसका भीतरका बीज उत्तरोत्तर कड़ा होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायेगा, गिर जायेगा; परंतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाये, परंतु स्मरण-शक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए। बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परंतु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है— "आजकल मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है।" "क्यों ?" "अब बुढ़ापा आ गया है!" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर बूढ़ा होनेसे ज्यों-ज्यों ढीला पड़ता जाये, त्यों-त्यों आत्मा बलवान होती जानी चाहिए। इसके लिए एकाग्रता आवश्यक है।

27. एकाग्रता कैसे साधें ?

8. अब एकाग्रता तो चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके **न किंचिदपि चिंतयेत्**— दूसरा कुछ भी चिंतन न करें।

परंतु यह सधे कैसे ? मनको बिलकुल शांत करना बड़े महत्त्वकी बात है।

विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता होगी कैसे ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाये, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाते हैं, वैसे-वैसे भीतरका चक्र अधिक वेगसे चलने लगता है। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आंखें स्थिर कर लीजिए। परंतु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बंद करना सधना चाहिए।

9. बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार, जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रताका सधना अशक्य है। अपनी आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्चकर डालते हैं, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए स्वयं अपने प्रयत्नसे धनी बननेवाला पुरुष आवश्यकताके बिना खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपनी आत्माकी ज्ञानशक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञानशक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्चकर डालते हैं। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा! अरे भाई, कितनी रत्ती नमक कम पड़ा ? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है! बच्चोंको पाठशालाकी चहारदीवारीके अंदर ही पढ़ाते हैं। कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायेंगे, तो कौए, कोयल और चिड़ियां देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे! कौए-चिड़ियां नहीं दिखीं, तो हो गयी उनकी एकाग्रता! परंतु हम हो गये हैं घोड़े! हमारे अब सींग निकल आये हैं। हमें सात-सात दीवालोंके भीतर भी किसीने बंदकर रखा, तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। क्योंकि, दुनियाकी फालतू बातोंकी चर्चा हम करेंगे। जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें ही खो देते हैं और उसमें कृतार्थता मानते हैं।

10. दिन-रात ऐसा भयानक संसार हमारे चारों ओर, भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है। परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए तो संसारको भुला दें! लेकिन यह भावनाही नहीं रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा होता है। जहां मनकी ऐसी स्थिति है, वहां आसन

जमाकर बैठना और आंख मूंदना, सब व्यर्थ है। मनकी दौड़ निरंतर बाहरकी ओर रहनेसे मनुष्यका सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियंत्रण-शक्ति मनुष्यमें नहीं रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमें पग-पग पर हो रहा है। वास्तवमें भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहांके लोग पहलेसे ही ऊंची हवामें उड़नेवाले समझे जाते हैं, पर ऐसे देशमें हमारी-आपकी क्या दशा है ? छोटी-छोटी बातोंकी इतनी बारीकीसे चर्चा करते हैं कि जिसे देखकर दुःख होता है। क्षुद्र विषयोंमें ही हमारा चित्त डूबा रहता है ।

कथा पुराण ऐकतां। झोपें नाडिलें तत्त्वतां॥
खाटेवरि पडतां। व्यापी चिंता तळमळ॥
ऐसी गहन कर्मगति। काय तयासी रडती॥

— 'कथा-पुराण श्रवण करने जाते हैं, तो निद्रा सताती है और बिस्तर पर लेटते हैं, तो चिंता और बेचैनी रहती है। ऐसी कर्मकी गहन गति है। क्या किया जाये ?' कथा-पुराण सुननेके लिए जाते हैं, तो वहां नींद आ घेरती है और नींद लेने जाते हैं, तो वहां चिंता और विचार-चक्रशुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता, तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कहीं पता नहीं। मनुष्य इंद्रियोंका इतना गुलाम है। एक बार किसीने पूछा— "आंखें अर्धोन्मीलित रखनी चाहिए, ऐसा क्यों कहा गया है ?" मैंने कहा— "सीधा-सादा उत्तर देता हूं। आंखें पूरी मूंद लें, तो नींद आ जाती है। खुली रखें, तो चारों ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नहीं होती। आंखें मूंदनेसे नींद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण हुआ। इसलिए बीचकी स्थिति कही है।"

तात्पर्य यह है कि मनकी बैठक बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मनकी स्थिति शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासना-तृप्तिके लिए अथवा बाहरी बातोंके लिए नहीं करना चाहिए।

11. व्यवहार तो हम दिनभर करते रहते हैं। आखिर दिनभरकी इस खटपटका हेतु क्या है ? याजसाठीं केला होता अट्टहास। शेवटचा दिस गोड व्हावा

— 'यह सारा परिश्रम इसीलिए तो किया था कि अंतकी घड़ी मीठी हो।' सारी खटपट, सारी दौड़-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाये ? जिंदगीभर कड़ुआ विष क्यों पचाते हैं ? इसीलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण, पवित्र हो। दिनकी अंतिम घड़ी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया होगा, तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया, तो दिनका सारा काम सफल हुआ समझो। तब मन एकाग्र हो जायेगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धि आवश्यक है। बाह्य वस्तुओंका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नहीं है। परंतु इस थोड़ी-सी आयुमें भी परमेश्वरीय सुखका अनुभव लेनेका सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही सांचेमें ढले, एक-सी छाप लगे हुए, दो आंखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमें दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एकसे होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है, तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यों होता है ? एक ही परमेश्वरके बाल-बच्चे हैं, **अवघी एकाची च वीण !** 'सब एक ही खानिके'। तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है ? इन दो व्यक्तियोंकी जाति एक है, ऐसा विश्वास नहीं होता। एक नरका नारायण है, तो दूसरा नरका वानर!

12. मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग पहले भी हो गये हैं आज भी हमारे बीच हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले हो गये हैं और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी महान करनी कर सकता है, तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूंगा ? मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों बांध लूं ? जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिली है, फिर मैं ऐसा क्यों ? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमें वह बहुत आगे बढ़ गया है। परंतु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है ? **कासया गुणदोष पाहों आणिकांचे। मज काय त्यांचें उणें असे**— 'दूसरोंके गुण-दोष क्यों देखूं ? मुझमें क्या उनकी कमी है ?' खुद मुझमें क्या दोष कम हैं ? यदि मैं सदैव दूसरोंकी छोटी-छोटी

बातें देखनेमें तल्लीन रहा, तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता सधेगी कैसे ? उस दशामें मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है। एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नींद, और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मैं उलझा रहूंगा।

भगवानने चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आंखें रखो, इस तरह आसन जमाओ आदि सूचनाएं नहीं दीं, ऐसी बात नहीं। परंतु इन सबसे लाभ तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हों। मनुष्यके चित्तमें पहले यह जम जाये कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूंढ़ निकालेगा।

28. जीवनकी परिमितता

13. चित्तकी एकाग्रतामें सहायक दूसरी बात है— जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओंमें आ जाना चाहिए। औषधि जैसे नाप-तौल करली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। सब जगह नाप-तौल चाहिए। प्रत्येक इंद्रिय पर पहरा बैठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं खाता, अधिक तो नहीं सोता, जरूरतसे ज्यादा तो नहीं देखता— इस प्रकार सतत बारीकीसे जांच करते रहना चाहिए।

14. एक भाई किसी व्यक्तिके बारेमें कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमें जाते, तो एक मिनटमें उनकी निगाहमें आ जाता था कि कमरेमें कहां क्या रखा है। मैंने मनमें कहा— "भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।" क्या मैं उसका सचिव हूं, जो पांच-पचीस चीजोंकी सूची मनमें रखूं ? क्या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहां था, घड़ी वहां थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आंखोंका यह वाहियातपन मुझे छोड़ देना चाहिए। यही बात कानकी है। कान पर भी पहरा रखो। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि 'यदि कुत्तोंकी तरह हमारे कान होते, तो कितना अच्छा होता! जिधर चाहते, उधर एक क्षणमें उन्हें हिला सकते! मनुष्यके कानमें परमात्माने यह कसर ही रख दी!' परंतु कानका यह वाहियातपन हमें नहीं चाहिए। वैसे ही यह मन भी जबर्दस्त है। जरा कहीं खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान।

15. अतः जीवनमें नियमन और परिमितता लायें। खराब चीज न देखें। खराब किताब न पढ़ें। निंदा-स्तुति न सुनें। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओंका भी आवश्यकतासे अधिक सेवन न करें। लोलुपता किसी भी प्रकारकी नहीं होनी चाहिए। शराब, पकौड़ी, रसगुल्ले तो होने ही नहीं चाहिए। परंतु संतरे, केले, मोसंबी भी बहुत नहीं चाहिए। फलाहार यों शुद्ध आहार है, परंतु वह भी मनमाना नहीं होना चाहिए। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन नहीं करना चाहिए। इंद्रियोंको यह भय रहे कि यदि हम ऊटपटांग बरतेंगे तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही 'जीवनकी परिमितता' कहते हैं।

29. मंगल-दृष्टि

16. तीसरी बात है, समदृष्टि होना। समदृष्टिका अर्थ ही है-शुभदृष्टि। शुभदृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सिंह इतना बड़ा वनराज है, परंतु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिंसक सिंहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौए, बिल्ली, इनकी आंखें हमेशा घूमती रहती हैं। उनकी निगाह चौकन्नी, घबरायी हुई होती है। हिंस्र प्राणियोंका ऐसा ही हाल रहेगा। साम्यदृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मंगलमय लगनी चाहिए। जैसे मुझे खुद अपने पर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिए।

17. यहां डरनेकी बात ही क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है। **विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः**— यह विश्व मंगलमय है, क्योंकि परमेश्वर उसकी सार-संभाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंगने भी ऐसा ही कहा है— "ईश्वर आकाशमें विराजमान है और सारा विश्व ठीक ही चल रहा है।"

विश्वमें कुछ भी बिगाड़ नहीं है। अगर बिगाड़ कहीं है, तो वह मेरी दृष्टिमें है। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी सृष्टि। यदि मैं लाल रंगका चश्मा चढ़ा लूंगा, तो सारी सृष्टि लाल-ही-लाल दिखायी देगी, जलती हुई दिखायी देगी।

18. रामदास रामायण लिखते जाते और शिष्योंको पढ़कर सुनाते जाते थे। हनुमान भी गुप्तरूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था— "हनुमान अशोक वनमें गये। वहां उन्होंने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहां झट्से हनुमान प्रकट हो गये और बोले— "मैंने सफेद फूल बिलकुल

नहीं देखे, लाल देखे थे। आपने गलत लिखा है। उसे सुधार लीजिए।'' समर्थने कहा— ''मैंने ठीक लिखा हैं। आपने सफेद ही फूल देखे थे।'' हनुमानने कहा— ''मैं खुद वहां गया था और मैं ही झूठा ?'' अंतमें झगड़ा रामचंद्रजीके पास गया। उन्होंने कहा— ''फूल तो सफेद ही थे; परंतु हनुमानकी आंखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, इसलिए शुभ्र फूल उन्हें लाल दिखायी दिये।'' इस मधुर कथाका आशय यही है कि संसारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमें वैसा ही दिखायी देगा।

19. यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है, तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। जब तक मैं यह समझता रहूंगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है, तब तक मैं सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखता रहूंगा। कवि पक्षियोंकी स्वतंत्रताके गीत गाते हैं। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पक्षी होकर देखो तो! फिर उनकी आजादीकी सही कीमत मालूम हो जायेगी। पक्षियोंकी गर्दन बराबर आगे-पीछे सतत नाचती रहती है। उन्हें सतत दूसरोंका भय लगा रहता है। चिड़ियाको आसन पर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायेगी ? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड़ जायेगी। वह डरेगी कि कहीं यह मुझे मारने तो नहीं आ रहा है! जिनके दिमागमें ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है, संहारक है, उन्हें शांति कहां ? जब तक यह खयाल दिमागसे नहीं निकलेगा कि अपना रक्षक मैं अकेला ही हूं, बाकी सब भक्षक हैं, तबतक एकाग्रता नहीं सध सकती। समदृष्टिकी भावना करना, यही एकाग्रताका उत्तम मार्ग है। आप सर्वत्र मांगल्य देखने लग जाइए, चित्त अपने-आप शांत हो जायेगा।

20. किसी दुःखी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइए। उसके स्वच्छ-शांत प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायेगी। वह अपना दुःख भूल जायेगा। उस झरनेमें, उस प्रवाहमें इतनी शक्ति कहांसे आयी ? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उसमें प्रकट हुई है। वेदोंमें झरनेका बड़ा ही सुंदर वर्णन है— अतिष्ठन्तीनां अनिवेशनानाम्। ऐसे ये झरने हैं। झरना अखंड बहता है। उसका अपना कोई घरबार नहीं। वह संन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमें मेरे मनको एकाग्र बना देता है। ऐसे सुंदर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका झरना

मेरे मनमें मैं क्यों न निर्माण करूं ?

21. यह बाहरका जड़ पानी भी यदि मेरे मनको शांति प्रदान कर सकता है, तो फिर मेरी मानस-दरीमें यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे, तो कितनी शांति प्राप्त होगी!

मेरे एक मित्र हिमालयमें, कश्मीरमें, घूम रहे थे। वहांके पवित्र पर्वतोंके, सुंदर जल-प्रवाहोंके वर्णन वे लिख-लिखकर मुझे भेजते थे। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुम्हें वहां अनुपम आनंद देते हैं, उन सबका अनुभव मैं अपने हृदयमें करता हूं। अपनी अंतःसृष्टिमें मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योंको देखता हूं। अतः तुम्हारे बुलाने पर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोड़कर नहीं आऊंगा। **स्थावराणां हिमालयः।** जिस स्थिरता-मूर्ति हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया तो उससे क्या लाभ!

22. सारांश; चित्तको जरा शांत कीजिए। सृष्टिकी ओर मंगल दृष्टिसे देखिए, तो फिर आपके हृदयमें अनंत झरने बहने लगेंगे। कल्पनाओंके दिव्य तारे हृदयाकाशमें चमकने लगेंगे। पत्थर और मिट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शांत हो जाता है, तो फिर अंतःसृष्टिके दृश्य देखकर वह शांत क्यों न होगा ?

एक बार मैं त्रावणकोर गया था। एक दिन समुद्र-किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी धू-धू गर्जना, सायंकालका समय। मैं स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वहीं समुद्र किनारे कुछ फल वगैरह खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्विक आहार भी मुझे विषकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ ॐ गर्जना, मुझे **मामनुस्मर युध्य च**— इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आयी, वह गयी और दूसरी आयी। उसे एक क्षणके लिए विश्रांति नहीं। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड़ गयी थी। आखिर उस समुद्रमें ऐसा क्या था ? उस खारे पानीकी लहरोंको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है, तो फिर ज्ञान और प्रेमका अथाह सागर हृदयमें हिलोरें मारने लगे तो मैं कितना नाचूंगा ? वैदिक ऋषिके हृदयमें ऐसा ही समुद्र हिलोरें मारता था—

अंतः समुद्रे हृदि अंतरायुषि.....
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि....
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत्....

इस दिव्य भाषा पर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोंकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गयी। कौन-सी वह घृतकी धारा! कौन-सी वह मधुकी धारा! मेरे अंतःसमुद्रमें क्या खारी लहरें उठेंगी ? नहीं, नहीं। मेरे हृदयमें तो दूध-घी और मधुकी लहरें हिलोरें मार रही हैं।

30. बालक गुरु

23. हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखिए। बाहरके निरभ्र नील आकाशको देखकर चित्तको भी निर्लेप और निर्मल बनाइए। सच पूछो, तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोंकी आंखोंकी ओर एकटक होकर देखो। छोटा बच्चा टकटकी लगाकर देखता है, लेकिन आप दस बार पलक गिरायेंगे। बच्चोंका मन तुरंत एकाग्र हो जाता है। चार-पांच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह सतत देखता रहेगा। स्त्रियोंकी तो ऐसी मान्यता है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रंगकी हो जाती है। मानो सब इंद्रियोंकी आंखें बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मन पर किसी भी घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षाशास्त्री कहते हैं— ''शुरूके दो-चार सालोंमें जो शिक्षा बालकोंको मिल जाती है, वही वास्तविक शिक्षा है।'' आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशालाएं, संघ-संस्थाएं कायम कीजिए, शुरूमें जो शिक्षा मिलती है, वैसी फिर आगे नहीं मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा संबंध है। दिन-ब-दिन मेरा यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरंभिक संस्कार वज्रलेप हो जाते हैं। बादके शिक्षणको बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है; परंतु चमड़ीका काला रंग जायेगा क्या ? उसी तरह शुरूमें जो संस्कार पड़ जाता है, उसका मिटना अत्यंत कठिन हो जाता है।

तो ये शुरूके संस्कार बलवान क्यों ? बादके संस्कार कमजोर क्यों ? इसलिए कि बचपनमें चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो

संस्कार पड़ते हैं, वे फिर नहीं मिटते। चित्तकी एकाग्रताकी ऐसी महिमा है। जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गयी, उसके लिए क्या अशक्य है ?

24. हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बालवृत्ति मर गयी है, नष्ट हो गयी है। जीवनमें वास्तविक सरसता नहीं। वह शुष्क हो गया है। हम ऊटपटांग, जैसे-तैसे चल रहे हैं। डार्विन साहब नहीं, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि मनुष्यके पूर्वज बंदर थे।

छोटे बच्चों में विश्वास होता है। मां जो कहे, वह उनके लिए प्रमाण। जो कहानियां उनसे कही जाती हैं, वे असत्य नहीं मालूम होतीं। कौआ बोला, चिड़िया बोली, यह सब उन्हें सच मालूम होता है। बच्चों की इस मंगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी होती है।

31. अभ्यास, वैराग्य और श्रद्धा

25. तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगके लिए चित्तकी एकाग्रता, जीवनकी परिमितता और शुभ-साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये हैं— वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वंसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाड़कर फेंकना विध्वंसक काम हुआ। इसीको 'वैराग्य' कहते हैं। उसमें बीज बोना विधायक काम है। मनमें सद्विचारोंका पुनः-पुनः चिंतन करना 'अभ्यास' कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया।

26. अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते हैं— 'आम मीठा है', परंतु क्या यह मिठास निरे आममें है ? नहीं, निरे आममें नहीं है। हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमें डालते हैं और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अतः भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमें मधुरता नहीं है, बल्कि वह रसानां रसतमः माधुर्य-सागर आत्मा मेरे पास है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओंको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमें वैराग्यका संचार होता है। सीता माताने हनुमानको मोतियोंका हार दिया। हनुमान मोतियोंको चबाता, देखता और फेंक देता। उनमें उसे कहीं 'राम' दिखायी नहीं देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन मोतियोंके लिए मूर्ख लोग लाख रुपये दे देते।

27. इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान ने एक बहुत ही महत्त्वकी बात शुरूमें ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि 'मुझे खुद अपना उद्धार करना है। मैं आगे बढ़ूंगा। मैं ऊंची उड़ान भरूंगा। इस नर-देहमें मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा नहीं रहूंगा। परमेश्वरके पास जानेका हिम्मतके साथ प्रयत्न करूंगा।'

यह सब सुनते-सुनते अर्जुनके मनमें शंका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उम्र बीत गयी। कुछ दिनोंमें हम मर जायेंगे, तो फिर यह साधना किस काम आयेगी ?" भगवानने कहा— "मृत्युका अर्थ तो है लंबी नींद।" रोजका काम करके हम सात-आठ घंटे सोते हैं। इस नींदसे कोई डरता है ? बल्कि नींद न आये, तो फिक्र पड़ जाती है। जैसे नींद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नींदसे उठकर फिर हम अपना काम प्रारंभ कर देते हैं, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आयेगी।

28. ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' में इस प्रसंग पर लिखी ओवियोंमें मानो अपना आत्मचरित्र ही लिख दिया है!

बालपणीं च सर्वज्ञता। वरी तयातें।
सकळ शास्त्रें स्वयंभें। निघतीं मुखें॥

—'शैशवमें ही उन्हें सर्वज्ञता वरण करती है। सारे शास्त्र स्वयं ही मुखसे निकलते हैं' आदि वचनों में यह बात दीख पड़ती है। पूर्वजन्मका अभ्यास आपको खींच लेता है। किसी-किसीका चित्त विषयोंकी ओर जाता ही नहीं। वह जानता ही नहीं कि मोह कैसे होता है; क्योंकि पूर्वजन्ममें वह उसकी साधना कर चुका है।

भगवानने आश्वासन दिया है— **न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति**— जो मनुष्य कल्याण-मार्ग पर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता। अंतमें इस तरहकी श्रद्धा बतायी है। जो कुछ अपूर्ण है, वह अंतमें पूरा होकर रहेगा। भगवानके इस उपदेशका स्वारस्य ग्रहण करिये और अपने जीवनको सार्थक कीजिये।

रविवार, 27-3-32

सातवां अध्याय

प्रपत्ति अथवा ईश्वर-शरणता

32. भक्तिका भव्य दर्शन

1. भाइयो, अर्जुनके सामने जब स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उसके मनमें स्वकीय और परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणको टालनेकी चेष्टा करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमें दिखाया गया। इस मोहको मिटानेके लिए दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धांत बताये गये— (1) अमर आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, (2) देह नाशवान् है और (3) स्वधर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्यागरूपी वह युक्ति भी बतलायी, जिससे इन सिद्धांतों पर अमल किया जा सके। इस कर्मयोगका विवरण देते हुए उसमेंसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन वस्तुएं उत्पन्न हुईं। कर्म-विकर्मके संगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पांचवें अध्यायमें हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआतकी गयी है। छठे अध्यायमें साधनाके लिए आवश्यक एकाग्रता बतायी गयी।

आज सातवां अध्याय है। इस अध्यायमें विकर्मका एक नया ही भव्य कक्ष खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मंदिरमें, किसी विशाल वनमें, हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते हैं, वैसा ही अनुभव गीताग्रंथमें होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका कक्ष देखा। अब हम जरा दूसरे कक्षमें प्रवेश करें।

2. उस कक्षका द्वार खोलनेसे पहले ही भगवानने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागज पर एक ही कूंचीसे चित्रकार नानाविध चित्र अंकित करता है। कोई सितारिया सात स्वरोंसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मयके बावन अक्षरोंकी सहायतासे हम नाना प्रकारके विचार और भाव प्रकट करते हैं। वैसा ही इस सृष्टिमें भी है। सृष्टिमें अनंत वस्तुएं और अनंत वृत्तियां दिखायी देती हैं। परंतु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा और एक ही अष्टधा प्रकृतिके दुहरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका

क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दुःखीका क्रंदन, आनंदीका हर्ष, आलसीका नींदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण; ये सब एक ही चैतन्य-शक्तिके खेल हैं। इन परस्पर-विरुद्ध भावोंके मूलमें एक ही चैतन्य भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक ही है। चैतन्यमय आत्मा और जड़ प्रकृति, इस दुहरे मसालेसे सारी सृष्टि बनी है, जनमी है, यह आरंभमें ही भगवान बता रहे हैं।

3. आत्मा और देह, परा और अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही है, फिर भी मनुष्य मोहमें क्यों पड़ जाता है ? भेद क्यों दिखायी देता है ? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है, तो किसी दूसरेको देखकर तबीयत हटती है। एकसे मिलनेकी और दूसरेको टालनेकी तबीयत क्यों होती है ? एक ही पेंसिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार; परंतु नाना चित्रोंसे नाना भाव प्रकट होते हैं। इसीमें तो चित्रकारकी कुशलता है। चित्रकारकी, सितारियेकी उंगलियोंमें ऐसी कुशलता है कि वे हमें रुला देते हैं, हंसा देते हैं। यह सारी खूबी उनकी उन उंगलियोंमें है।

यह निकट रहे, वह दूर रहे; यह मेरा, वह पराया— ऐसे जो विचार मनमें आते हैं और जिनके चलते मनुष्य मौके पर कर्त्तव्यसे कतराने लगता है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माताकी उंगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषदमें नगाड़ेका दृष्टांत दिया है। एक ही नगाड़ेसे भिन्न-भिन्न नाद निकलते हैं। कुछ नादोंसे मैं डर जाता हूं, कुछको सुनकर नाच उठता हूं। उन सब भावोंको यदि जीत लेना है, तो नगाड़ा बजानेवालेको पकड़ लेना चाहिए। उसके पकड़में आते ही सारे नाद पकड़में आ जाते हैं। भगवान एक ही वाक्यमें कहते हैं— "जो मायाको तर जाना चाहते हैं, वे मेरी शरण आयें।"

येथ एकचि लीला तरले। जे सर्व भावें मज भजले।
तयां ऐलीच थडी सरलें। मायाजळ॥

— 'यहां वही व्यक्ति लीलाको तरते हैं, जो सर्वभावसे मेरा भजन करते हैं। उनके लिए इसी किनारे मायाजल सूख गया है।'

तो यह माया क्या है ? माया कहते हैं परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कलाको, उसकी कुशलताको। आत्मा और प्रकृति— अथवा जैन परिभाषामें कहें, तो जीव और अजीवरूपी इस मसालेसे जिसने यह अनंत रंगोंवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही 'माया' है। जेलखानेमें जैसे एक ही अनाजकी वह रोटी और वही एक सर्वरसी दाल होती है, वैसे ही एक ही अखंड आत्मा और एक ही अष्टधा शरीर समझो। इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजें बनाता रहता है। हम इन चीजोंको देखकर अनेक विरोधी, अच्छे-बुरे भावोंका अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शांति पाना चाहते हैं, तो इन वस्तुओंके निर्माताको पकड़ना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए। उससे जान-पहचान होने पर ही यह भेद-मूलक, आसंक्ति-जन्य मोह टाला जा सकेगा।

4. उसपरमेश्वरको समझ लेनेका एक महान साधन, एक महान विकर्म, बतानेके लिए सातवें अध्यायमें भक्तिका भव्य दालान खोल दिया है। चित्त-शुद्धिके लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा आदि अनेक विकर्म बताये जाते हैं; परंतु इन साधनोंको मैं सोडा, साबुन और अरीठाकी उपमा दूंगा। लेकिन भक्तिको पानी कहूंगा। सोडा, साबुन अरीठा सफाई करते हैं, परंतु पानीके बिना उनका काम नहीं चल सकता। पानी न हो, तो उनसे क्या लाभ ? सोडा, साबुन, अरीठा न हो, केवल पानी हो, तो भी वह निर्मलता ला सकता है। उस पानीके साथ यदि ये पदार्थ भी हों, तो **अधिकस्य अधिकं फलम्** हो जायेगा। कहेंगे कि दूधमें शक्कर पड़ी है। यज्ञ-याग, ध्यान, तप, इन सबमें यदि हार्दिकता न हो, तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकताका ही अर्थ है— भक्ति।

सब प्रकारके साधनोंको भक्तिकी जरूरत है। भक्ति एक सार्वभौम उपाय है। सेवा शास्त्र सीखकर, उपचारोंका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर कोई मनुष्य रोगीकी सेवा-शुश्रूषाके लिए जाता है, पर यदि उसके मनमें सेवाकी भावना न हो तो बताओ, सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खूब मोटा-ताजा हो, पर यदि गाड़ी खींचनेकी इच्छा ही उसे न हो, तो वह कंधा डालकर बैठ जायेगा और संभव है कि गाड़ीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे। जिस कार्यमें हार्दिकता नहीं है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

33. भक्तिसे विशुद्ध आनंदका लाभ

5. यह भक्ति होगी, तो उस महान चित्रकारकी कला हम देख सकेंगे। उसके हाथकी वह कलम हम देख सकेंगे। जहां एक बार उस उद्‌गमके झरनेको और वहांके अपूर्व मधुर रसको चखा कि और सब रस तुच्छ और नीरस मालूम होंगे। जिसने वास्तविक केले खाये हैं, वह लकड़ीके रंगीन केले एक क्षणके लिए हाथमें लेगा और 'बड़े सुंदर हैं', कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोंका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोंमें खास उत्साह नहीं रहता। इसी तरह जिसने असली झरनेकी मिठास चख ली, वह बाहरके गुलाब-शर्बत पर लट्टू नहीं होगा।

6. एक तत्त्वज्ञानीसे लोगोंने कहा— "महाराज, चलिए शहरमें आज बड़ी आराइशकी गयी है।" तत्त्वज्ञानी बोला— "आराइश क्या है ? एक दीपक, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड़ जितने चाहे समझ लो। समझ गया तुम्हारी आराइश।" गणित श्रेणीमें होता है, 1 + 2 + 3 इस तरह अनंत तक। संख्याओंमें जो अंतर रखना है, वह यदि मालूम हो जाये, तो फिर सारी संख्या लिखनेकी जरूरत नहीं रहती। उसी तरह वे दीपक एकके बाद एक रख दिये समझो। इनमें इतना मशगूल होने जैसी क्या बात है ? परंतु मनुष्यको ऐसे आनंद प्रिय होते हैं। वह नीबू लायेगा, शक्कर लायेगा, पानीमें घोलेगा और फिर बड़ा स्वाद लेकर कहेगा— "वाह, क्या बढ़िया शिकंजी बनी है!" जीभको जायका लेनेके सिवा और धंधा ही क्या है ? यह उसमें मिलाओ, वह इसमें मिलाओ। ऐसी मिलावटकी चाट खानेमें ही सारा मजा! बचपनमें एक बार मैं सिनेमा देखने गया था। साथमें एक टाटका टुकड़ा ले गया था, ताकि नींद आने लगे, तो सो जाऊं। परदे पर आंखोंको चौंधिया देनेवाली वह आग मैं देखने लगा। दो ही चार मिनटमें उन अग्निचित्रोंको देखकर मेरी आंखें थक गयीं। मैं अपने टाट पर सो गया और कहा कि खेल जब खतम हो जाये, तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामें आकाशके चांद-तारे देखना छोड़कर, शांत सृष्टिका वह पवित्र आनंद छोड़कर उस हवाबंद थियेटरमें आगकी पुतलियोंको नाचते देखकर लोग तालियां पीटते हैं! यह सारा मेरी तो समझमें ही नहीं आता।

7. मनुष्य इतना निरानंद कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोंको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोड़ा आनंद पा लेता है। जीवनमें आनंद नहीं है, तो कृत्रिम आनंद खोजते हैं। एक बार हमारे पड़ोसमें 'ढमढम' बजना शुरू हुआ। मैंने पूछा— "यह बाजा क्यों ?" तो कहा गया— "लड़का हुआ है!" दुनियामें क्या एक तेरे ही लड़का हुआ है, जो 'ढमढम' बजाकर दुनियासे कहते हो कि मेरे लड़का हुआ है ? लड़का होनेकी बात कहकर नाचता, कूदता और गाता है। यह सब लड़कपन नहीं तो क्या है ? मानो आनंदका अकाल ही पड़ गया है। अकालके दिनोंमें जैसे कहीं अनाजका दाना दीखते ही लोग टूट पड़ते हैं, उसी तरह जहां लड़का हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनंदके भूखे-प्यासे लोग फुदकने लगते हैं।

क्या यह सच्चा आनंद है ? संगीतकी लहरें कानोंमें घुसकर दिमागको धक्का देती हैं। रूप आंखोंमें घुसकर दिमागको धक्का देता है। इन धक्कोंमें ही बेचारोंका आनंद समाया रहता है। कोई तंबाकू कूटकर उसे नाकमें घुसेड़ता है, कोई उसकी बीड़ी बनाकर मुंहमें खोंसता है। उस सुंघनीका या उस धुएंका धक्का लगा, तो मानो उन्हें आनंदकी गठरी मिल गयी। बीड़ीका ठूंठ मिलते ही उनके आनंदकी सीमा नहीं रहती। टॉल्स्टॉय लिखते हैं— "उस बीड़ीकी खुमारीमें मनुष्य किसीका खून भी कर सकता है!" एक प्रकारका नशा ही तो है वह!

ऐसे आनंदमें मनुष्य क्यों मस्त हो जाता है ? क्योंकि उसे वास्तविक आनंदका पता नहीं है। मनुष्य परछाईमें ही भूला है। आज वह पांच ज्ञानेंद्रियोंका ही आनंद ले रहा है। यदि आंखकी इंद्रिय न होती, तो वह मानता कि संसारमें इंद्रियोंके चार ही आनंद हैं। कल यदि मंगल ग्रहसे कोई छह इंद्रियोंवाला मनुष्य नीचे उतर आये, तो ये बेचारे पांच इंद्रियोंवाले खिन्न होंगे और रोते-रोते कहेंगे कि "इसके मुकाबले हम कितने दीन-हीन हैं!"

सृष्टिका संपूर्ण अर्थ इन पांच ज्ञानेंद्रियोंको कैसे मालूम होगा ? इन पांच विषयोंमें भी फिर मनुष्य चुनाव करता है और उसमें रमता रहता है बेचारा। गधेका रेंकना उसके कानोंमें जाता है, तो कहता है कि कहांसे यह अशुभ आवाज आ गयी ? तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नहीं होगा ? तुम्हींको

दूसरेसे नुकसान होता है, क्या दूसरोंका तुमसे कुछ नहीं बिगड़ता ? पर मान लिया है कि गधेका रेंकना अशुभ है।

एक बार बड़ौदा कॉलेजमें मेरे रहते समय कुछ यूरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये, अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे; परंतु मैं सोच रहा था कि कब यहांसे छूटूंगा, क्योंकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नहीं थी। मैंने उन्हें फेल कर दिया। हमारी तरफके गवैये यदि उधर जायें, तो शायद वे भी वहां फेल समझे जायेंगे। संगीतसे एकको आनंद होता है, तो दूसरेको नहीं। मतलब यह कि वह सच्चा आनंद नहीं है, मायावी आनंद है। जब तक वास्तविक आनंदका दर्शन नहीं होगा, तब तक इस मायावी आनंदमें ही झूलते रहेंगे। जब तक असली दूध नहीं मिला था, तब तक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध मानकर पीता था। इसलिए जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेंगे, उसका आनंद चख लेंगे, तो फिर दूसरी सब चीजें फीकी लगेंगी।

8. इस आनंदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है— भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरीय कुशलता मालूम हो जायेगी। उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाएं अपने-आप विलीन हो जायेंगी। फिर क्षुद्र आकर्षण नहीं रह जायेगा। फिर संसारमें एक आनंद ही भरा हुआ दिखायी देगा। मिठाईकी दूकानें भले ही सैकड़ों हों, परंतु मिठाइयोंका प्रकार एक-सा होता है। जब तक असली चीज हाथ नहीं लगेगी, तब तक हम चंचल चिड़ियाकी तरह एक चीज यहांकी खायेंगे, एक वहां की।

सुबह मैं तुलसी-रामायण पढ़ रहा था। दीपकके पास कीड़े जमा हो रहे थे। इतनेमें वहां एक छिपकली आयी। उसे मेरी रामायणसे क्या लेना-देना था! कीड़े देखकर उसे बड़ा आनंद हो रहा था। वह कीड़ों पर झपटनेवाली थी कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गयी। परंतु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीड़ेकी ओर। मैंने अपने मनसे पूछा— "तू खायेगा इस कीड़ेको ? तेरी जीभसे लार टपकती है ?" मेरी जीभसे लार नहीं टपकी। जिस रसका आनंद मैं लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता ? वह रामायणका रस नहीं चख सकती थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोंमें मस्त हैं।

परंतु यदि सच्चा रस मिल जाये, तो कैसी बहार आये! भगवान भक्तिरूपी एक साधन दिखा रहे हैं, जिससे हम उस असली रसको चख सकें।

34. सकाम भक्तिका भी मूल्य है

9. भगवानने भक्तके तीन प्रकार बतलाये हैं— (1) सकाम भक्ति करनेवाला (2) निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवाला और (3) ज्ञानी अर्थात् संपूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवालोंके भी तीन प्रकार हैं— (1) आर्त (2) जिज्ञासु (3) अर्थार्थी। भक्तिवृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाएं हैं।

सकाम भक्ति करनेवाला यानी क्या ? कुछ इच्छा मनमें रखकर भगवानके पास जानेवाला। मैं उसकी यह कहकर निंदा नहीं करूंगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। बहुत लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें इसीलिए कूदते हैं कि मान-सम्मान मिले। इसमें हर्ज क्या है ? आप उन्हें खूब मान दीजिए। मान देनेसे कुछ बिगड़ेगा नहीं। ऐसा मान मिलते रहनेसे आगे सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायेंगे। फिर उसी काममें उन्हें आनंद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमें विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते हैं, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी है या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आंतरिक साधन नहीं है, वह इस बाह्य साधनका सहारा लेता है। मांने बच्चेकी पीठ ठोंककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबीयत होती है कि मांका और भी काम करूं। यही बात सकाम भक्तकी है। सकाम भक्त सीधा परमेश्वरके पास जाकर कहेगा— "दो।" सबकुछ परमेश्वरसे मांगना कोई मामूली बात नहीं। यह असाधारण बात है।

ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा— "तीर्थयात्राके लिए चलते हो ?" नामदेवने कहा— "यात्रा किसलिए ?" ज्ञानदेवने जवाब दिया— "साधु-संतोंका समागम होगा।" नामदेवने कहा— "तो भगवानसे पूछ आता हूं।" नामदेव मंदिरमें जाकर भगवानके सामने खड़े हो गये। उनकी आंखोंसे आंसू बहने लगे। भगवानके उन समचरणोंकी ओर वे देखते रहे। अंतमें रोते-रोते उन्होंने पूछा— "प्रभो, क्या मैं जाऊं ?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेंगे ? ऐसे लोग बहुत हैं, जो घरमें स्त्री न होनेसे रोते हैं। परंतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला

भक्त सकाम भले ही हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मांगने योग्य है, उसे वह नहीं मांगता। परंतु इसलिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नहीं मानी जा सकती।

10. स्त्रियां सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती हैं, काकड़ा[१] आरती करती हैं, तुलसीकी परिक्रमा करती हैं। किसलिए ? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ये भोली धारणाएं हो सकती हैं। परंतु उनके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती हैं। ऐसे व्रतशील परिवारमें महापुरुषोंका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके पंडित थे। किसीने कह दिया— "तुलसीदासके कुलमें जनमे हो और तुम संस्कृत नहीं जानते!" रामतीर्थको यह बात चुभ गयी। कुलस्मृतिका यह कितना सामर्थ्य है। इससे प्रेरित होकर वे संस्कृतके अध्ययनमें जुट गये। स्त्रियां जो भक्तिभाव रखती हैं, उसकी दिल्लगी नहीं उड़ानी चाहिए। जहां भक्तिका ऐसा एक-एक कण संचित होता है, वहां तेजस्वी संतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान कहते हैं— "मेरा भक्त सकाम होगा, तो भी उसकी भक्ति दृढ़ करूंगा। उसके मनमें उलझन नहीं होने दूंगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूरकर दो, तो मैं उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूंगा। किसी भी निमित्तसे क्यों न हो, वह मेरे पास आयेगा, तो मैं उसकी पीठ पर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूंगा।" ध्रुवको ही देखो। पिताकी गोदमें नहीं बैठ पाया, तो उसकी मांने कहा, "ईश्वरसे स्थान मांग।" वह उपासनामें जुट पड़ा। भगवानने उसे अचल स्थान दे दिया। मन निष्काम न हो, तो भी क्या ? महत्त्वकी बात तो यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मांगता किससे है? दुनियाके सामने हाथ न पसारकर ईश्वरसे मांगनेकी वृत्ति बड़े महत्त्वकी है।

11. निमित्त कुछ भी हो, एक बार आप भक्ति-मंदिरमें जाओ तो सही। पहले यदि कामना लेकर भी जाओगे, तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शनियांकी जाती हैं। उनके संचालक कहते हैं— "अजी, आप आकर देखिए, कैसी बढ़िया, रंगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नये-नये नमूने तो देखिए।"

---

१. सुबहकी जानेवाली बड़ी बातीवाली विशिष्ट आरती।

मनुष्य आता है और प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मंदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहांका सौंदर्य और सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायेगा।

स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अंतमें एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन सब रास्तेमें गल गये। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मराजसे कहा गया— "तुम आ सकते हो, परंतु कुत्तेको मनाही है।" धर्मराजने कहा— "अगर मेरा कुत्ता नहीं आ सकता तो मैं भी नहीं आ सकता।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यों न हो, दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोंसे तो वह श्रेष्ठ ही है। वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला कीड़ा ही क्यों न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले बड़े-से-बड़े व्यक्तिसे श्रेष्ठ और महान है। मंदिरमें कछुए और नंदीकी मूर्तियां रहती हैं, परंतु उस नंदी बैलको सब नमस्कार करते हैं; क्योंकि वह साधारण बैल नहीं है। वह भगवानके सामने रहता है। बैल होने पर भी यह नहीं भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बड़े-बड़े बुद्धिमानोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। भगवानका स्मरण करनेवाला बावला जीव भी विश्ववंद्य हो जाता है।

12. एक बार मैं रेलमें जा रहा था। यमुनाके पुल पर गाड़ी आयी। पास बैठे एक आदमीने बड़े पुलकित हृदयसे उसमें एक धेला डाल दिया। पड़ोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे— "पहले ही देश कंगाल है और ये लोग यों व्यर्थ पैसा फेंकते हैं!" मैंने कहा— "आपने उसके हेतुको पहचाना नहीं। जिस भावनासे उसने धेला— पैसा फेंका, उसकी कीमत दो-चार पैसे होगी या नहीं ? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए पैसे दिये होते, तो यह दान और भी अच्छा होता। किंतु इस बातका विचार पीछे करेंगे। परंतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इस भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी यानी ईश्वरकी करुणा ही बह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थशास्त्रमें कोई स्थान है क्या ? देशकी एक नदीको देखकर उसका अंतःकरण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्रकर सकें, तो मैं आपकी देश-भक्तिको परखूंगा।" देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है ? देशकी महान नदीको देखकर यदि यह भावना मनमें जगती है कि अपनी सारी संपत्ति इसमें डुबो दूं, इसके चरणोंमें अर्पण कर दूं, तो यह

कितनी बड़ी देश-भक्ति है! वह सारी धन-दौलत, वे सब सफेद, लाल, पीले पत्थर, कीड़ोंकी विष्ठासे बने मोती, मूंगा— इन सबकी कीमत पानीमें डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोंके आगे यह सारी धूल तुच्छ समझो। आप कहेंगे कि नदीका और परमेश्वरके चरणोंका क्या संबंध ? आपकी सृष्टिमें परमात्माका कुछ संबंध है भी ? नदी है, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन। सूर्य है, गैसकी बत्तीका एक बड़ा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करें! नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको! फिर उस रोटीमें भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यों इतनी लार टपकाते हो ? इतना बड़ा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुंदर नदी बह रही है— इनमें यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा, तो फिर होगा कहां ?.अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बड़े दु:खसे कहता है— "पहले जब मैं इंद्र-धनुष देखता था, तो नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था। पर आज मैं क्यों नहीं नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कहीं मैं पत्थर तो नहीं बन गया ?"

सारांश यह कि सकाम भक्ति अथवा गंवार मनुष्यकी भावनाका भी बड़ा महत्त्व है। अंतमें इससे महान सामर्थ्य पैदा होता है। जीवधारी कोई भी और कैसा ही हो, वह जब एक बार, परमेश्वरके दरबारमें आ जाता है, तो फिर मान्य हो जाता है। आगमें किसी भी लकड़ीको डालिए, वह जल ही उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। बादमें वह भक्ति निष्कामता और पूर्णताकी ओर जायेगी।

35. निष्काम भक्तिके प्रकार और पूर्णता

13. सकाम भक्त हमने देखा। अब निष्काम भक्त देखें। उनमें दो प्रकार हैं— एकांगी और पूर्ण। एकांगीके भी तीन प्रकार। उनमें पहला प्रकार है आर्त भक्तोंका। आर्त होता है आर्द्रता ढूंढनेवाला, भगवानके लिए रोने-छटपटानेवाला; जैसे नामदेव। वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल रहता है कि कब भगवानका प्रेम पाऊंगा; कब उसके गले लगूंगा; कब उसके चरणोंमें अपनेको डालूंगा! प्रत्येक कार्यमें वह यह देखेगा कि उसमें हार्दिकता है या नहीं, प्रेम है या नहीं।

14. दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओंका। आजकल अपने देशमें इस श्रेणीके भक्त

बहुत नहीं हैं। इस कोटिके भक्तोंमें कोई गौरीशंकर पर बार-बार चढ़ेंगे और मरेंगे। कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमें निकलेंगे और अपनी खोजके फल कागज पर लिखकर उन्हें बोतलमें बंद करके पानीमें छोड़कर मर जायेंगे। कोई ज्वालामुखीके गर्भमें उतरेंगे। अभी तो हिंदुस्तानियोंके लिए मौत एक हौआ बन बैठी है। परिवारके भरण-पोषणसे बढ़कर कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है। जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखसे अंतमें सागरको पा लेता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अंतमें परमेश्वरको प्राप्त कर लेगा।

15. तीसरा प्रकार है, अर्थार्थियोंका। अर्थार्थीका अर्थ है, प्रत्येक बातमें अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का मतलब पैसा नहीं; बल्कि हित, कल्याण है। किसी भी बातकी जांच करते समय वह उसे इस कसौटी पर कसेगा कि इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण होगा। वह देखेगा कि मैं जो कुछ कहता, लिखता, करता हूं, उससे संसारका मंगल होगा या नहीं ? निरुपयोगी, अहितकर क्रिया उसे पसंद नहीं आयेगी। संसारके हितकी चिंता करनेवाला कितना बड़ा महात्मा है वह! जगत्का कल्याण ही उसका आनंद है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओंको देखता है, वह आर्त; ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है, वह जिज्ञासु और सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है, वह अर्थार्थी।

16. ये तीनों भक्त हैं तो निष्काम, परंतु एकांगी हैं। एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धिके द्वारा ईश्वरके पास पहुंचता है। अब रहा पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भक्त कहना चाहिए। इस भक्तको जो कुछ दीखता है सो सब परमेश्वरका ही रूप है। कुरूप-सुरूप, राव-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी— सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन। **नर-नारी बाळें अवघा नारायण। ऐसें माझें मन करीं देवा—** 'नर, नारी, बालक सभी नारायण हैं। ऐसा मेरा मन बना दो, हे प्रभु!' संत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिंदू-धर्ममें जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूंडवाले देवताकी पूजा, पेड़ोंकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनका कमाल, ज्ञानी भक्तोंमें दीखता है। उनसे कोई भी क्यों न मिले, उन्हें चींटीसे लेकर चंद्र-सूर्य तक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय

आनंदसे हिलोरें मारने लगता है। मग तया सुखा अंत नाहीं पार। आनंदें सागर हेलावती— 'फिर उसे अपार सुख मिलता है। आनंदसे उसका हृदय-सागर हिलोरें मारने लगता है।'

ऐसा जो यह दिव्य और भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहें; परंतु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, आनंदकी निधि है। गंभीर सागरमें उसे परमेश्वरका विलास दिखायी देता है, गो-मातामें उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमें उसकी क्षमता दीख पड़ती है, निरभ्र आकाशमें उसकी निर्मलता, रवि-चंद्र-तारोंमें उसका तेज और भव्यता दीख पड़ती है। फूलमें उसकी कोमलता और दुर्जनोंमें अपनी कसौटी करनेवाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है' यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते-करते वह ज्ञानी भक्त एक दिन ईश्वरमें ही मिल जाता है।

रविवार, 3-4-32

आठवां अध्याय

प्रयाण-साधना : सातत्ययोग

36. शुभ संस्कारोंका संचय

1. मनुष्यका जीवन अनेक संस्कारोंसे भरा होता है। हमसे असंख्य क्रियाएं होती रहती हैं। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें, तो उनका अंत ही नहीं आ सकता। यदि मोटे तौर पर हम चौबीस घंटोंकी ही क्रियाओंको देखने लगें, तो उनकी गिनती भी बहुत अधिक होगी। खाना, पीना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढ़ना— इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दुःख आदि अनंत प्रकार दिखायी देंगे। इन सबके संस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं। अतः मुझसे यदि कोई पूछे कि जीवन किसे कहते हैं, तो मैं उसकी व्याख्या करूंगा— संस्कार-संचय।

2. संस्कार अच्छे भी होते हैं, बुरे भी। दोनोंका प्रभाव मनुष्यके जीवन पर

पड़ता रहता है। बचपनकी क्रियाओंकी तो हमें याद भी नहीं रहती। सारा बचपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेट पर लिखकर पोंछ दिया हो। पूर्वजन्मके संस्कार तो बिलकुल ही साफ पोंछ दिये जैसे हो जाते हैं— यहां तक कि इस बातकी भी शंका उठ सकती है कि पूर्वजन्म था भी या नहीं! जब इस जन्मका ही बचपन याद नहीं आता, तो फिर पूर्वजन्मकी तो बात ही क्या ? पूर्वजन्मको जाने दीजिए, हम इसी जन्मका विचार करें। जितनी क्रियाएं हमें याद रहती हैं, उतनी ही होती हैं, सो बात नहीं। क्रियाएं अनेक होती हैं, और ज्ञान भी अनेक होते हैं; परंतु ये क्रियाएं और ये ज्ञान मिटकर अंतमें कुछ संस्कार ही बच जाते हैं। रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओंको यदि हम याद करने लगें तो भी याद नहीं आतीं। कौन-सी क्रियाएं याद आती हैं ? वे ही क्रियाएं हमारी आंखोंके सामने आती हैं, जो बहुत स्पष्ट और प्रभावकारी होती हैं। यदि हमारा किसीसे बहुत लड़ाई-झगड़ा हुआ हो, तो वह याद रहता है; क्योंकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य और स्पष्ट क्रियाओंके संस्कार मन पर बड़े गहरे हो जाते हैं। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड़ जाती हैं। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठें तो दो-चार ही महत्त्वकी बातें लिखते हैं। यदि प्रतिदिनके ऐसे संस्कारोंको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगें, तो और भी कई बातें उसमेंसे निकल जायेंगी और सप्ताहकी मुख्य घटनाएं ही बच जायेंगी। पिछले महीनेका हिसाब लगाने बैठें, तो उतनी ही बातें हमारे सामने आयेंगी, जो उस महीनेमें मुख्य रही होंगी। इसी तरह फिर छह महीना, साल, पांच सालका हिसाब लगायें, तो बहुत थोड़ी खास-खास बातें याद रहेंगी और उन्हींके संस्कार बनेंगे। असंख्य क्रियाओं और अनंत ज्ञानोंके होने पर भी अंतमें मनके पास बहुत थोड़ी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्म और ज्ञान आये और अपना काम करके समाप्त हो गये। उन सब कर्मोंके पांच-दस दृढ़ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। ये संस्कार ही हमारी पूंजी हैं। हम जीवनरूपी व्यापार करके सिर्फ संस्काररूपी संपत्ति कमाते हैं। जिस प्रकार व्यापारी रोजका, महीनेका और सालभरका जमा-नाम करके अंतमें लाभ या हानिका एक ही आंकड़ा निकालता है, ठीक वही हाल जीवनका होता है। अनेक संस्कारोंका जमा-नाम होते-होते अंतमें एक अत्यंत छोटी और सीमित

पूंजी बच जाती है। जब जीवनकी अंतिम घड़ी आती है, तब जीवनकी यह बचत आत्मा याद करने लगता है। जन्मभरमें क्या किया, इसकी याद आने पर उसे सारी कमाई दो-चार बातोंमें दीख पड़ती है। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य सब कर्म और ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया। हजारों प्रकारके लेन-देनके बाद अंतमें कुल पांच हजारका घाटा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। घाटा हुआ तो छाती बैठ जाती है, नफा हुआ तो दिल उछलने लगता है।

3. हमारा भी यही हाल है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई, तो जिंदगीभर भोजनका स्वाद लेनेका ही अभ्यास करते रहे, यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंगदीभरकी कमाई। किसी माताको, मरते समय यदि बेटेकी याद हो आयी, तो उसका पुत्रसंबंधी संस्कार ही बलवान मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये, वे गौण हो गये। अंकगणितमें अपूर्णांकके सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं! परंतु संक्षेप करते-करते अंतमें एक अथवा शून्य उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएं बाद होकर अंतमें एक बलवान संस्कार ही साररूपमें रह जाता है। जीवनरूपी प्रश्नका वह उत्तर है। अंतकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अंतिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अंत मधुर, उसका सब मधुर। उस अंतिम उत्तर पर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। गणितमें जो विशिष्ट प्रश्न पूछा गया होगा, उसको सामने रखकर उत्तर निकालते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अतः मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रखनेकी इच्छा हो, उसीके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

37. मरणका स्मरण रहे

4. इस आठवें अध्याय में यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय स्पष्टतः उभरता है, वही अगले जन्ममें बलवत्तर सिद्ध होता है। इस पाथेयको

साथ लेकर जीव आगेकी यात्राके लिए निकलता है। आजके दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मके पाथेयको लेकर मरणरूपी बड़ी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है, वही अगले जन्मका आरंभ है। अतः सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

5. मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत इसलिए भी है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके, उसका उपाय निकाला जा सके। एकनाथ महाराजकी एक कहानी है। एक सज्जनने उनसे पूछा— "महाराज, आपका जीवन कितना सादा, कितना निष्पाप है! हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं ? आप कभी गुस्सा नहीं होते, किसीसे लड़ाई-झगड़ा नहीं, टंटा-बखेड़ा नहीं। कितने शांत, कितने प्रेमपूर्ण, कितने पवित्र हैं आप!" एकनाथने कहा— "अभी मेरी बात छोड़ो। तुम्हारे संबंधमें मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सात दिनके भीतर तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।" अब एकनाथकी कही बातको झूठ कौन मानता ? सात दिनमें मृत्यु! सिर्फ 168 ही घंटे बाकी रहे। हे भगवन्! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड़ गया। कुछ सूझ नहीं पड़ता था। सारा समेटनेकी बातें करने लगा। तैयारी करने लगा, वह बीमार हो गया। बिस्तर पर पड़ गया। छह दिन बीत गये। सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा— "कैसा है ?" वह बोला— "जाता हूं अब।" फिर एकनाथने पूछा, "इन छह दिनोंमें कितना पाप हुआ ? पापके कितने विचार मनमें आये ?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला— "नाथजी, पापका विचार करनेकी तो फुरसत ही नहीं मिली। मौत सतत आंखोंके सामने खड़ी थी।" नाथजीने कहा— "हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है, इसका उत्तर अब मिल गया न ?" मरणरूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे, तो फिर पाप सूझेगा कैसे ? पाप करनेके लिए भी निश्चिंतता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है। यदि मौत सामने दीखती रहे, तो फिर मनुष्य किस बल पर पाप करेगा ?

6. परंतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामका एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया। उसकी एक पुस्तक है— 'पांसे'। 'पांसे' का अर्थ है— 'विचार'।

उसने इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये हैं। उसमें वह एक जगह लिखता है— "मौत सदा पीछे खड़ी है; परंतु मनुष्यका यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे ? किंतु वह यह बात अपने सामने नहीं रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चले ?" मनुष्यको 'मरण' शब्दतक सहन नहीं होता। खाते समय यदि मृत्युका नाम किसीने ले लिया, तो कहते हैं— "क्या अशुभ बात मुंहसे निकालते हो!" परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मृत्युकी ओर ही बढ़ रहा है। बंबईका टिकट कटाकर एक बार तुम रेलमें बैठ गये, तो तुम भले ही बैठे रहो, परंतु गाड़ी तुम्हें बंबई ले जाकर छोड़ ही देगी। जन्म होते ही हमने मृत्युका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिए या दौड़ते रहिए। बैठे रहेंगे तो भी मृत्यु आयेगी, दौड़ते रहेंगे तो भी। आप मृत्युका विचार करें या न करें, वह आये बिना नहीं रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हों। सूर्य अस्ताचलकी ओर चला कि हमारी आयुका एक अंश उसने खाया। जीवनके टुकड़े यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूंद घट रहा है, तो भी मनुष्यको उसका कुछ खयाल नहीं। ज्ञानेश्वर कहते हैं— "बड़ा अजीब है!" उन्हें आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्योंकर इतनी निश्चिंतता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय लगता है कि उसे मरणका विचार तक सहन नहीं होता। वह सदा मरणके विचारको टालता रहता है। आंखों पर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लड़ाई पर जानेवाले सैनिक मरणका विचार टालनेके लिए खेलते हैं, नाचते-गाते हैं, सिगरेट पीते हैं। पास्कल लिखता है कि— "प्रत्यक्ष मरण सर्वत्र देखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही, उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमें और गान-तानमें मस्त रहता है।"

7. हम सब इसी टामीकी तरह हैं। चेहरेको गोल हंसमुख बनानेका प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पोमेड लगाना; बाल सफेद हो गये हों, तो खिजाब लगाना— ऐसे प्रयत्न मनुष्य करता है। छाती पर मृत्यु नाच रही है, फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अखंड प्रयत्न कर रहे हैं। और चाहे कोई भी बातें करेंगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेंगे। मैट्रिक पास लड़केसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा है ?" तो वह कहता है— "अभी मत पूछो, अभी तो

फर्स्ट ईयरमें हूं।'' दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा— ''पहले इंटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।'' यही सिलसिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका क्या पहलेसे विचार नहीं करना चाहिए ? अगले कदमके बारेमें पहलेसे सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह गड्ढेमें गिर सकता है, परंतु विद्यार्थी इन सबको टालता है। बेचारेकी शिक्षा ही इतनी अंधकारमय होती है कि उससे उस पारका भविष्य उसे दिखायी ही नहीं देता। अतः आगे क्या करना है, यह सवाल ही वह सामने नहीं आने देता, क्योंकि उसे चारों ओर अंधकार ही दिखायी देता है। परंतु भविष्य टाला नहीं जा सकता। वह तो गर्दन पर आकर सवार हो ही जाता है।

8. कॉलेजमें प्रोफेसर तर्कशास्त्र पढ़ाता है— ''मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।'' यह अनुमान वह सिखाता है। वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यों नहीं देता ? प्रोफेसर भी मर्त्य है। वह क्यों नहीं पढ़ाता कि ''सब मनुष्य मर्त्य हैं, अतः मैं प्रोफेसर भी मर्त्य हूं और तुम शिष्य भी मर्त्य हो!'' वह उस मरणको सुकरात पर ढकेल देता है, क्योंकि सुकरात तो मर चुका है। वह झगड़ा करनेके लिए हाजिर नहीं है। शिष्य और गुरु दोनों सुकरातको मरण सौंपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप, मेरी भी चुप' वाली गति करते हैं। मानो, वे यह समझ बैठे हैं कि हम तो बहुत सुरक्षित हैं।

9. इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र रात-दिन जान-बूझकर हो रहा है। परंतु इससे मृत्यु कहीं टल सकती है ? कल यदि मां मर जाये, तो मौत सामने आने ही वाली है। मनुष्य निर्भयतापूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नहीं करता कि उसमेंसे रास्ता कैसे निकाला जाये। मान लो कि कोई शेर हिरनके पीछे पड़ा है। वह हिरन खूब चौकड़ी भरता है, परंतु उसकी शक्ति कम पड़ती जाती है और अंतमें वह थक जाता है। पीछेसे वह शेर, यमदूत दौड़ा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है ? वह उस शेरकी ओर देख भी नहीं सकता। वह मिट्टीमें सींग और मुंह घुसाकर, आंख मूंदकर खड़ा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता है— ''ले, आ और मुझे हड़प जा।'' हम मृत्युका सामना नहीं कर सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारों तरकीबें निकालें तो भी उसका जोर इतना होता है कि अंतमें वह धर दबाती ही है।

10. और फिर जब मृत्यु आती है, तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड़-बाकी देखने लगता है। परीक्षामें बैठा हुआ आलसी, मंद विद्यार्थी दावातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परंतु सफेद कागजको काला करनेकी हिम्मत नहीं करता। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नहीं ? सरस्वती आकर थोड़े ही लिख जायेगी! तीन घंटे समाप्त हो जाते हैं, वह कोरा कागज दे देता है या अंतमें कुछ घसीट मारता है। सवाल हल करना है, जवाब लिखना है, यह उसे सूझता ही नहीं! वह इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमें चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर कि जीवनका छोर मृत्युकी ओर गया हुआ है, अंतिम क्षणको पुण्यमय, अत्यंत पावन और मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहें। आजसे ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मन पर उत्तम-से-उत्तम संस्कार कैसे पड़े। परंतु अच्छे संस्कारोंके अभ्यासकी पड़ी किसे है ? इससे विपरीत, बुरी बातोंका अभ्यास पग-पग पर होता रहता है। जीभ, आंख और कानको हम चटोरपन सिखा रहे हैं। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमें लगाना चाहिए। अच्छी बातोंकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उनमें उसे रंग देना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाये, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जाने पर भी क्या वही करते रहेंगे ? जिस क्षण हमें अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नव-प्रभात समझो। अब तुम सचमुच जगे हो। अब दिन-रात जीवनकी जांच-पड़ताल करते रहो और सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायेगा।

11. बहुत साल पहले मैं अपनी दादीसे मिलने गया था। वह बहुत बूढ़ी हो गयी थी। वह मुझसे कहती— "विन्या, अब मुझे कुछ याद नहीं रहता। घीकी बरनी लेने जाती हूं और उसे बिना लिये ही लौट आती हूं।" परंतु वह 50 साल पहलेकी गहनोंकी एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहलेकी बात याद नहीं, मगर पचास साल पहलेके बलवान संस्कार अंत तक सतेज हैं। इसका कारण क्या है ? वह गहनेवाली बात उसने हरएकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चारण होता रहा। अतः वह जीवनसे चिपककर बैठ गयी। जीवनके साथ एकरूप

हो गयी। मैंने मनमें कहा— "भगवान करे, दादीको मरते समय उन गहनोंकी याद न आये।"

38. सदा उसीमें रंगा रह

12. जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते हैं, वह हमसे क्यों नहीं चिपकी रहेगी ? अजामिलकी वह कथा पढ़कर भ्रममें मत पड़ियेगा। वह ऊपरसे पापी था; परंतु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा बह रही थी। वह पुण्य अंतिम क्षणमें जाग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अंतमें राम-नाम अचूक याद आ जायेगा, इस धोखेमें मत रहिये। बचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करिये। ऐसी सावधानी रखें कि हमेशा अच्छे ही संस्कार पड़ें। ऐसा न कहें कि इससे क्या होगा और उससे क्या होगा ? चार बजे ही क्यों उठें ? सात बजे उठें, तो उससे क्या बिगड़ेगा ? ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। यदि मनको बराबर ऐसी आजादी देते जाओगे, तो अंतमें फंस जाओगे। फिर अच्छे संस्कार अंकित नहीं होने पायेंगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी जुटानी पड़ती है। एक-एक क्षण व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमें लगाना पड़ता है। इस बातका ध्यान रखो कि प्रतिक्षण अच्छा ही संस्कार पड़ रहा है न ? बुरी बात बोले कि हुआ बुरा संस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छेनी बनकर हमारा जीवनरूपी पत्थर गढ़ती है। दिन अच्छी तरह बीता, तो भी स्वप्नमें बुरे विचार आ जाते हैं। दस-पांच दिनके विचार स्वप्नमें आते हों, सो बात नहीं। कितने ही बुरे संस्कार असावधानीमें पड़ जाते हैं। नहीं कह सकते कि वे कब जग पड़ेंगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोंमें भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा हो जाता है। हम संसार-सागरमें डूब रहे हैं। यदि हम थोड़ा भी अच्छा बोलें, तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नहीं जाता। वह तुम्हें तार देगा। लेशमात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिए। सदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आंखें पवित्र रहें, कान निंदा न सुनें, मुखसे वाणी अच्छी निकले। यदि ऐसी सावधानी रखोगे, तो अंतिम क्षणमें हुक्मी दांव पड़ेगा। हम अपने जीवनके और मरणके स्वामी बनेंगे।

13. पवित्र संस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें घोलने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण और बाहरसे स्वधर्माचरण।

हाथोंसे सेवारूपी कर्म, मनमें विकर्म— ऐसा नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते हैं। वे रोज कातने पर जोर देते हैं। रोज क्यों कातें ? कपड़ेके लिए कभी-कभी कात लिया करें, तो क्या काम नहीं चलेगा ? परंतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमें आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चिंतन है। वह सूत हमें नित्य दरिद्र-नारायणसे जोड़ता है। वह संस्कार दृढ़ होता है।

14. डॉक्टर ने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें, तो ? तो वह बेतुकी बात होगी। औषधिका उद्देश्य सफल नहीं होगा। प्रतिदिन औषधिके संस्कारसे प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शिवजी पर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पड़ता है। मेरा यह प्रिय दृष्टांत है। बचपनमें मैं नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घंटोंमें कुल मिलाकर वह पानी दो बालटी होता होगा, तो फिर एक साथ दो बालटी शिवजी पर क्यों न उंड़ेल दें ? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उंड़ेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूंदकी सतत धार पड़ना ही उपासना है। समान संस्कारोंकी धारा सतत बहनी चाहिए। जो संस्कार सबेरे, वही दोपहर को, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज और जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें वही अगले जन्ममें, जो जीवनमें वही मृत्युमें। ऐसी एक-एक सत्संस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखंड चालू रहेगा, तभी हम अंतमें जीत सकेंगे। तभी हम मुकाम पर अपना झंडा गाड़ सकेंगे। संस्कारोंका प्रवाह एक ही दिशामें बहना चाहिए। पहाड़ पर गिरा पानी यदि दसों दिशाओंमें बह जायेगा, तो फिर उससे नदी नहीं बन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामें बहेगा, तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गंगा बनकर ठेठ समुद्र तक जा पहुंचेगा। एक दिशामें बहनेवाला पानी समुद्रमें मिलेगा, चारों दिशाओंमें जानेवाला यों ही सूख जायेगा। यही बात संस्कारोंकी है। संस्कार यदि आते और मिटते गये, तो क्या फ़ायदा ? जब जीवनमें संस्कारोंका पवित्र प्रवाह सतत बहता रहेगा, तभी अंतमें मरण महा आनंदका निधान

मालूम पड़ेगा। जो यात्री रास्तेमें ज्यादा न ठहरते हुए रास्तेके मोह और प्रलोभनसे बचते हुए, कष्टसे कदम जमा-जमाकर, शिखर पर पहुंच गया और ऊपर पहुंचकर छाती परके सारे बोझ और बंधन हटाकर, वहांकी खुली हवाका अनुभव करने लगा, उसके आनंदकी कल्पना क्या दूसरे लोग कर सकेंगे ? पर जो प्रवासी रास्तेमें रुक गया, उसके लिए सूर्य थोड़े ही रुकेगा ?

39. रात-दिन युद्धका प्रसंग

15. सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण और भीतरसे हरिस्मरणरूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया, इस तरह जब ये अंतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे, तब मरण आनंददायी मालूम होगा। इसलिए भगवान कहते हैं— **तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**— 'मेरा अखंड स्मरण करो और लड़ते रहो।' **सदा त्यांत चि रंगला**— 'उसीमें सदा रंगा रह।' सदा ईश्वरमें लीन रहो। ईश्वरीय प्रेमसे जब अंतर्बाह्य रंग जाओगे, जब वह रंग सारे जीवनमें चढ़ जायेगा, तब पवित्र बातोंमें सदैव आनंद आने लगेगा। तब बुरी वृत्तियां सामने आकर खड़ी ही नहीं रहेंगी। सुंदर, बढ़िया मनोरथोंके अंकुर मनमें उगने लगेंगे। अच्छे कर्म सहज ही होने लगेंगे।

16. यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे; परंतु भगवानकी आज्ञा है कि 'लड़ते रहो'। तुकाराम महाराज कहते हैं— **रात्री दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग। अंतर्बाह्य जग आणि मन**— 'हमारे लिए रात-दिन युद्धका ही प्रसंग है। एक ओर है मन और दूसरी ओर है अंतर्बाह्य जगत्।'

भीतर और बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगड़ा जारी रहता है। इस झगड़ेमें हर बार जय ही होगी, ऐसा नहीं। जो अंतको साध लेगा, वही सच्चा विजयी। अंतमें जो फैसला हो, वही सही। कभी सफलता मिलेगी, तो कभी असफलता। असफलता मिली, तो निराश होनेका कोई कारण नहीं। मान लो कि पत्थर पर उन्नीस बार चोट लगानेसे वह नहीं फूटा और बीसवीं बारकी चोटसे फूट गया, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटें व्यर्थ ही गयीं ? उस बीसवीं चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटें कर रही थीं।

17. निराश होनेका अर्थ है, नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा

रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढ़ानेके लिए मां उसे इधर-उधर जाने देती है; परंतु वह उसे गिरने नहीं देती। जहां वह गिरने लगा कि झट् आकर धीरेसे उठा लेती है। ईश्वर भी तुम्हारी ओर देख रहा है। तुम्हारी जीवनरूपी पतंगकी डोरी उसके हाथमें है। कभी वह डोर खींच लेता है, कभी ढीली छोड़ देता है; परंतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमें। गंगाके घाट पर तैरना सिखाते हैं। घाटपरके वृक्षमें सांकल या डोरी बंधी रहती है। उसे कमरसे बांधकर आदमीको पानीमें फेंक देते हैं। सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमें रहते ही हैं। नौसिखिया पहले दो-चार बार डुबकी खाता है, परंतु अंतमें वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमें जीवनकी कला सिखा रहा है।

40. शुक्ल-कृष्ण गति

18. परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर यदि 'मनसा-वाचा-कर्मणा' दिन-रात लड़ते रहोगे, तो अंतकी घड़ी अतिशय उत्तम होगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायेंगे। यही बात इस अध्यायके अंतमें एक रूपक द्वारा बतायी गयी है। इस रूपकको समझ लीजिए। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चंद्र बढ़ रहा है, उत्तरायणका निरभ्र और सुंदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्ममें विलीन होता है और जिसकी मृत्युके समय धुआं फैल रहा है, भीतर-बाहर अंधेरा हो रहा है, कृष्ण पक्षका चंद्रमा क्षीण हो रहा है, दक्षिणायनका मलिन और अभ्राच्छादित आकाश फैला है, वह फिरसे जन्म-मरणके फेरेमें पड़ेगा।

19. बहुत-से लोग इस रूपकको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं। यदि पुण्यमरणकी इच्छा हो, तो अग्नि, सूर्य, चंद्र, आकाश, इन देवताओंकी कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। जीवनके अंतिम क्षणमें भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे— "सतत कर्त्तव्य करते हुए मौत आ जाये, तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ़ रहे हैं, कोई काम कर रहे हैं— ऐसी हालतमें मैं मरूं, तो भर पाया।" 'ज्वाला जलती रहे', इसका यह अर्थ है। मरण-समयमें भी कर्म करते रहें— यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ है कि बुद्धिकी प्रभा अंत तक चमकती रहनी चाहिए। चंद्रकी कृपाका

अर्थ यह है कि मृत्युके समय पवित्र भावना बढ़ती जानी चाहिए। चंद्र मनका— भावनाका— देवता है। शुक्ल पक्षके चंद्रकी तरह मनकी भक्ति, प्रेम, उत्साह, परोपकार, दया आदि शुद्ध भावनाओंका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपा यानी हृदयाकाशमें आसक्तिरूपी बादल बिलकुल नहीं रहने चाहिए। एक बार गांधीजीने कहा— "मैं दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूं। चरखेको बड़ी पवित्र वस्तु मानता हूं। परंतु अंत-समयमें उसकी भी वासना नहीं रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा दी है, वह स्वयं चरखेकी चिंता करनेमें सर्वथा समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोंके हाथमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोड़कर मुझे परमात्मासे मिलनेको तैयार रहना चाहिए।" सारांश यह कि उत्तरायणका अर्थ है, हृदयमें आसक्तिरूपी बादलका न रहना।

20. अंतिम सांस तक हाथसे कोई-न-कोई सेवा-कार्य हो रहा है, भावनाकी पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमें जरा भी आसक्ति नहीं है, बुद्धि सतेज है— इस तरह जिसकी मृत्यु होगी, वह परमात्मामें लीन हुआ समझो। ऐसा परम मंगलमय अंत लानेके लिए रात-दिन सावधान और दक्ष रहकर लड़ते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मन पर अशुभ संस्कार न पड़ने देना चाहिए। ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नामस्मरण, तत्त्व-स्मरण पुनः-पुनः करते रहना चाहिए।

रविवार, 10-4-32

नौवां अध्याय

मानव-सेवारूपी राजविद्या : समर्पणयोग

41. प्रत्यक्ष अनुभवकी विद्या

1. आज मेरे गलेमें दर्द है। मुझे संदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुंच सकेगी या नहीं। इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अंतसमयकी बात स्मरण आ रही है। यह महापुरुष मरणशय्या पर पड़ा था। कफ बहुत बढ़ गया

था। कफका अतिसारमें पर्यवसान किया जा सकता है। अतः माधवरावने वैद्यसे कहा— "ऐसा करिए कि मेरा कफ हट जाये और उसकी जगह अतिसार हो जाये। उससे राम-नाम लेनेको मुंह खुल जायेगा।" मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवानने कहा— "जैसा गला चले, वैसा ही बोलता रह।" मैं जो यहां गीता सुना रहा हूं, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उससे लाभ होगा; परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूं। गीताका प्रवचन करते समय मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

2. मैं जो यह कह रहा हूं, उसका आजके अध्यायसे संबंध है। इस अध्यायमें हरि-नामकी अपूर्व महिमा बतायी गयी है। यह अध्याय गीताके मध्यभागमें खड़ा है। सारे महाभारतके मध्य गीता और गीताके मध्य यह नौवां अध्याय! अनेक कारणोंसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हुई है। कहते हैं कि ज्ञानदेवने जब समाधि ली, तो उन्होंने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरणमात्रसे मेरी आंखें छलछलाने लगती हैं और दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बड़ा उपकार है! केवल भारतवर्ष पर ही नहीं, सारी मनुष्य-जाति पर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवानने अर्जुनको बतायी, वह शब्दों द्वारा प्रकट करने योग्य नहीं थी। परंतु दयाभावसे प्रेरित होकर व्यासजीने इसे संस्कृत भाषा द्वारा प्रकट कर दिया। गूढ़ वस्तुको वाणीका रूप दिया।

3. इस अध्यायके आरंभमें ही भगवान कहते हैं— **राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।** यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, यह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते हैं। शब्दोंमें न समानेवाली, परंतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटी पर कसी हुई यह बात इस अध्यायमें बतायी गयी है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा है—

को जानैको जैहै जमपुर, को सुरपुर पर-धामको।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलामको॥

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग और उसकी कथाओंसे यहां क्या काम ? कौन कह सकता है कि स्वर्ग कौन जायेगा, यमपुर कौन ? यदि संसारमें चार दिन

रहना है, तो रामका गुलाम बनकर रहनेमें ही मुझे आनंद है— ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं। रामका गुलाम होकर रहनेकी मिठास इन अध्यायमें है। प्रत्यक्ष इसी देहमें, इन्हीं आंखोंसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभवकी जानेवाली बातें इस अध्यायमें बतायी गयी हैं। गुड़ खाते हैं, तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरह रामका गुलाम होकर रहनेकी मिठास यहां है। इस मृत्युलोकके जीवनका माधुर्य प्रत्यक्ष चखानेवाली यह राज-विद्या इस अध्यायमें कही गयी है। वैसे वह गूढ़ है, परंतु भगवान उसे सबके लिए सुलभ करके और खोलकर रख रहे हैं।

42. सरल मार्ग

4. गीता जिस धर्मका सार है, उस धर्मको 'वैदिक धर्म' कहते हैं। वैदिक धर्मका अर्थ है, वेदोंसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतल पर जितने अति प्राचीन लेख हैं, उनमें वेद सबसे पहले लेख माने जाते हैं। भक्त लोग उन्हें अनादि मानते हैं। इसीसे वेद पूज्य माने जाते हैं। यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाये, तो भी वेद हमारे समाजकी प्राचीन भावनाओंके प्राचीनतम चिह्न हैं। ताम्रपट, शिलालेख, सिक्के, बर्तन, प्राणियोंके अवशेष आदिकी अपेक्षा ये लिखित साधन बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। संसारमें पहला ऐतिहासिक प्रमाण यदि कोई है, तो वह वेद है। इन वेदोंमें जो धर्म बीजरूपमें था, उसका वृक्ष होते-होते अंतमें उसमें गीतारूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेड़का हम खायें भी क्या ? जब वृक्षमें फल लगते हैं, तभी हमारे खानेकी चीज उसमें हमें मिल सकती है। गीता वेद-धर्मके सारका भी सार है।

5. यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ़ था, उसमें नाना यज्ञयाग, क्रियाकलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएं बतलायी गयी हैं। यह जो सारा कर्मकांड है, यद्यपि वह निरुपयोगी नहीं है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। वह कर्मकांड सबके लिए सुलभ नहीं था। ऊंचे नारियलके पेड़ पर चढ़कर फल कौन तोड़े, कौन छीले और कौन फोड़े ? मैं चाहे कितना ही भूखा होऊं, पर ऊंचे पेड़का वह नारियल मुझे मिले कैसे ? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूं, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है। परंतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी ? जब

तक वह नारियल मेरे हाथमें न पड़े, तब तक सब व्यर्थ है। वेदोंकी इन नाना क्रियाओंमें बड़े बारीक विचार रहते हैं। जन-साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो ? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नहीं, परंतु वेदोंका तो अधिकार नहीं। तब दूसरोंका काम कैसे चले ?

6. अतः कृपासागर संत लोग आगे बढ़कर बोले— "आओ, हम इन वेदोंका रस निकाल लें। वेदोंका सार थोड़ेमें निकालकर संसारको दें।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते हैं— **वेद अनंत बोलिला। अर्थ इतुकाचि साधिला**— 'वेदोंने अनंत बातें कहीं हैं, परंतु उनमेंसे केवल इतना ही साररूप अर्थ निकला है।'

वह अर्थ क्या है ? तो हरि-नाम। हरि-नाम वेदोंका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियां, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गंवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पंगु सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोंकी अलमारीमें बंद मोक्षको भगवानने राज-मार्ग पर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी-सादी, सरल तरकीब! जिनका जैसा भी सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञमय क्यों न बना दें ? फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है ? अपने नित्यके सीधे-सादे सेवा-कर्मको ही यज्ञ समझकर करो।

7. यही राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् ! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

इस मार्ग पर यदि आंखें मूंदकर दौड़ते चले जाओ, तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नहीं। दूसरा मार्ग है, **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**। तलवारकी धार भी शायद थोड़ी भोथरी पड़ेगी, ऐसा विकट यह वैदिक मार्ग है। रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। इंजीनियर रास्तेकी ऊंचाई धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमें ऊंचे शिखर पर ला बिठाता है। हमें पता भी नहीं लगता कि इतने ऊंचे चढ़ रहे हैं। इंजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राजमार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खड़ा है, वहीं उस सादे कर्म द्वारा वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है— ऐसा यह मार्ग है।

8. परमेश्वर क्या कहीं छिपकर बैठा है ? किसी खोहमें, किसी घाटीमें, किसी नदीमें या किसी स्वर्गमें वह लुककर बैठ गया है ? लाल, नीलम, चांदी-सोना पृथ्वीके पेटमें छिपा रहता है। मोती-मूंगा रत्नाकर समुद्रमें छिपे रहते हैं। वैसा वह परमेश्वररूपी 'लाल रतन' क्या कहीं छिपा हुआ है ? भगवानको कहींसे खोदकर निकालना है ? यह सामने और सर्वत्र भगवान ही खड़ा है। ये सभी लोग परमात्माकी ही तो मूर्तियां हैं। भगवान कहते हैं— "इस मानवरूपमें प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई!" ईश्वर ही सारे चराचरमें प्रकट हो रहा है। उसे खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोंकी क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो, उस सबका संबंध भगवानसे जोड़ दो; बस, काम बन गया। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वह स्वाहा, वह स्वधा, वह श्राद्ध, वह तर्पण सब हमें मोक्षकी ओर ले जायेंगे। परंतु उसमें अधिकारी और अनधिकारीका झमेला खड़ा होता है। हमें उनकी ज़रूरत ही नहीं। इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरार्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका संबंध ईश्वरसे जोड़ दो। इस नौवें अध्यायकी यही शिक्षा है। इसलिए यह भक्तोंको बहुत प्रिय है।

43. अधिकार-भेदकी झंझट नहीं

9. कृष्णके सारे जीवनमें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्णकी ही विशेष उपासनाकी जाती है। वह ग्वाल-बालोंके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हंसता-खेलता। इंद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले, तो उसने उनसे कहा— "इंद्रको किसने देखा है ? उसके उपकार ही क्या हैं ? पर यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है। यहां गायें चरती हैं। इसमें पानीके सोते बहते हैं। अतः इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन ग्वालोंमें खेला, जिन गोपियोंसे हंसा-बोला, जिन गाय-बछड़ोंमें रमा, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खोल दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बताया है। बचपनमें उसका गाय-बछड़ोंसे संबंध रहा। बड़े होने पर घोड़ोंसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गायें गद्‌गद् हो जातीं और कृष्णके हाथ फेरते ही घोड़े फुरफुराने लगते। वे गाय-बछड़े और वे रथके घोड़े

केवल कृष्णमय हो जाते। 'पापयोनि' माने गये उन पशुओंको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्ष पर केवल मनुष्यका ही अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षियोंका भी है— यह बात श्रीकृष्णने स्पष्ट कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इस बातका अनुभव किया था।

10. जो अनुभव भगवानको हुआ, वही व्यासजीको भी हुआ। कृष्ण और व्यास, दोनों एकरूप ही हैं। दोनोंके जीवनका सार भी एक ही है। मोक्ष न विद्वत्ता पर अवलंबित है, न कर्म-कलाप पर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही पर्याप्त है। 'मैं' 'मैं' कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही रह गये और भोली-भावुक स्त्रियां उनसे आगे बढ़ गयीं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो, तो फिर मोक्ष कठिन नहीं है। महाभारतमें 'जनक-सुलभा-संवाद' नामक प्रकरण है। उसमें व्यासजीने एक ऐसे प्रसंगकी रचना की है, जिसमें राजा जनक ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये हैं। आप लोग भले ही बहस करते रहें कि स्त्रियोंको वेदोंका अधिकार है या नहीं, परंतु सुलभा तो यहां प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्मविद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री और जनक कितना बड़ा सम्राट्! कितनी विद्याओंसे संपन्न! पर उस महाज्ञानी जनकके पास मोक्ष नहीं था। इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोंमें झुकाया। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्यकी है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है। तुलाधार कहता है— "तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है!" वैसी ही कथा व्याधकी है। व्याध ठहरा कसाई। पशुओंको मारकर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहंकारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने व्याधके पास जानेके लिए कहा। ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या ज्ञान देगा ? ब्राह्मण व्याधके पास गया। व्याध क्या कर रहा था ? मांस काट रहा था, मांस धो रहा था और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा— "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्ममय किया जा सकता है, उतना मैं करता हूं। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उंड़ेली जा सकती है, उतनी उंड़ेलकर मैं यह कर्म करता हूं और अपने मां-बापकी सेवा करता हूं।" ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खड़ीकी है।

11. महाभारतमें ये जो स्त्री, शूद्र, वैश्य आदिकी कथाएं आती हैं, उनका उद्देश्य यही है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाये कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला है। इन कथाओंका तत्त्व इस नौवें अध्यायमें बतलाया गया है। इन कथाओं पर इस अध्यायमें मुहर लगायी गयी है। रामका गुलाम होकर रहनेमें जो मिठास है, वही व्याधके जीवनमें है। संत तुकाराम अहिंसक थे, परंतु उन्होंने बड़े चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाईने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकारामने एक जगह कहा है— "भगवन्, पशुओंका वध करनेवालोंकी क्या गति होगी!" परंतु— **सजन कसाया विकूं लागे मांस**— 'सजन कसाईके साथ मांस बेचता है'— यह चरण लिखकर उन्होंने कहा है कि भगवान सजन कसाईकी मदद करते हैं। नरसी मेहताकी हुंडी सकारनेवाला, एकनाथके यहां कांवर भरकर लानेवाला, दामाजीके लिए महार[1] बननेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाईको कूटने-पीसनेमें मदद करनेवाला भगवान सजन कसाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता है, ऐसा तुकाराम कहते हैं। सारांश यह कि अपने कृत्योंका संबंध परमेश्वरसे जोड़ना चाहिए। कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवामय हो, तो वह यज्ञरूप ही है।

44. कर्मफल भगवानको अर्पण

12. नौवें अध्यायमें यही विशेष बात कही गयी है। इसमें कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर-मिलाप है। कर्म-योगका अर्थ है, कर्म तो करना, परंतु फलका त्याग कर देना। कर्म ऐसी खूबीसे करो कि फलकी वासना चित्तको न छुए। यह अखरोटके पेड़ लगाने जैसा है। अखरोटके वृक्षमें पचीस वर्षमें फल लगते हैं। लगानेवालेको अपने जीवनमें शायद ही उसके फल चखनेको मिलें। फिर भी पेड़ लगाना है और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है। कर्म-योगका अर्थ है— पेड़ लगाना और फलकी अपेक्षा न रखना। और भक्ति-योग किसे कहते हैं ? भावपूर्वक ईश्वरके साथ जुड़ जानेका अर्थ है— भक्ति-योग। राज-योगमें कर्म-योग और भक्ति-योग दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। राजयोगकी कई लोगोंने कई व्याख्याएंकी हैं, परंतु राजयोग यानी कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर-

१. महाराष्ट्र की एक हरिजन-जाति।

मिश्रण, ऐसी थोड़ेमें मेरी व्याख्या है।

कर्म तो करना है, पर फल फेंकना नहीं, प्रभुको अर्पण कर देना है। फल फेंक देनेका अर्थ होता है फलका निषेध, किंतु अर्पणमें ऐसा नहीं होता। बहुत सुंदर व्यवस्था है यह! बड़ी मिठास है इसमें। फल छोड़नेका यह अर्थ नहीं कि फल कोई लेगा ही नहीं। कोई-न-कोई तो फल लेगा ही। किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही। फिर ऐसे तर्क खड़े हो सकते हैं कि जो इस फलको पायेगा, वह इसका अधिकारी भी है या नहीं ? कोई भिखारी घर आ जाता है, तो हम झट् कहते हैं— "अरे, तू खासा मोटा-ताजा है। भीख मांगना तुझे शोभा नहीं देता। चला जा।" हम यह देखते हैं कि उसका भीख मांगना उचित है या नहीं। भिखारी बेचारा शर्मिंदा होकर चला जाता है। हममें सहानुभूतिका पूर्ण अभाव होगा तो भीख मांगनेवालेकी योग्यता हम जानेंगे कैसे ?

13. बचपनमें मैंने एक बार अपनी मांसे भिखारियोंके बारेमें ऐसी ही शंकाकी थी। उसने जो उत्तर दिया, वह अभी तक मेरे कानोंमें गूंज रहा है। मैंने उससे कहा— "यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है। इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढ़ेंगे।" गीताका **देशे काले च पात्रे च....** यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। वह बोली— "जो भिखारी आया था, वह परमेश्वर ही था— अब पात्रापात्रताका कर विचार। भगवान क्या अपात्र हैं ? पात्रापात्रताका विचार करनेका तुझे और मुझे क्या अधिकार है ? अधिक विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नहीं मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" मांके इस उत्तरका कोई जवाब अभी तक मुझे नहीं सूझा है।

दूसरोंको भोजन कराते समय मैं उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हूं; परंतु अपने पेटमें रोटी डालते समय मुझे यह खयाल तक नहीं आता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नहीं ? जो हमारे दरवाजे आ जाता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यों समझा जाये ? जिसे हम देते हैं, वह भगवान ही है, ऐसा हम क्यों न समझें ?

14. राजयोग कहता है— "तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवानको ही दे डालो। उसीको अर्पण कर दो।" राजयोग

उचित स्थान बता रहा है। यहां फलत्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नहीं है और सबकुछ भगवानको ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रताका प्रश्न भी हल हो जाता है। भगवानको जो दान दिया गया है, वह सदा-सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममें यदि दोष भी रहा, तो उसके हाथोंमें पड़ते ही वह पवित्र हो जायेगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करें, तो भी दोष बाकी रहता ही है। फिर भी हम जितने शुद्ध होकर कर्म कर सकें, करें। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसका जितना शुद्धतासे उपयोग किया जा सकता है करना हमारा कर्त्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा। अतः पात्रापात्र-विवेक तो करना ही चाहिए; किंतु भगवद्भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

15. फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाये, वैसा ही भगवानको अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-जैसे होती जाये, वैसे-वैसे उसे भगवानको अर्पण करके मनकी पुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोड़ना नहीं है, उसे भगवानको अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएं और काम-क्रोधादि विकार भी परमेश्वरको अर्पण करके छुट्टी पाना है। **काम-क्रोध आम्हीं वाहिले विठ्ठलीं**— 'काम-क्रोध मैंने प्रभुके चरणोंमें अर्पण कर दिये हैं।' यहां न तो संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट् अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न मारना! **रोग जाय दुधें साखरें। तरी निंब कां पियावा**— 'जो गुड़ दीन्हें ही मरै, माहुर काहे देय ?'

16. इंद्रियां भी साधन हैं। उन्हें ईश्वरार्पण कर दो। कहते हैं— "कान हमारी नहीं सुनते", तो फिर क्या सुनना ही बंद कर दें ? नहीं, सुनो जरूर, पर हरि-कथा ही सुनो। न सुनना बड़ा कठिन है। परंतु हरिकथारूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक सुलभ, मधुर और हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इंद्रियां शत्रु नहीं हैं। वे अच्छी हैं। उनमें बड़ा सामर्थ्य है। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इंद्रियसे काम लेना— यही राज-मार्ग है। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

45. विशिष्ट क्रियाका आग्रह नहीं

17. ऐसा नहीं कि कोई विशेष क्रिया ही भगवानको अर्पण करनी है। कर्ममात्र

उसे सौंप दो। शबरीके वे बेर! रामने उन्हें कितने प्रेमसे स्वीकार किया। परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर बैठनेकी जरूरत नहीं है। तुम जहां, जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरको अर्पण करो। मां बच्चेको संभालती है, मानो भगवानको ही संभालती है। बच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वर पर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमेश्वरीय कृपाकी देन है, ऐसा मानकर मांको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे बच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी और यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थीं। उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हें अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवासंगोपन-क्रिया अत्यंत उच्च है। वह बालक यानी परमेश्वरकी मूर्ति! उस मूर्तिकी सेवासे बढ़कर भाग्य क्या हो सकता है ? यदि एक-दूसरेकी सेवा करते समय हम ऐसी ही भावना रखें, तो हमारे कर्मोंमें कितना परिवर्तन हो जायेगा! जिसको जो सेवा मिल गयी, वह ईश्वरकी ही सेवा है, ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

18. किसान बैलकी सेवा करता है। क्या वह बैल तुच्छ है ? नहीं, वेदोंमें वामदेवने शक्तिरूपसे विश्वमें व्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमें भी है-

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

— 'जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगह बंधा हुआ है, जो महान तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओंमें व्याप्त है, उसी गर्जना करनेवाले विश्वव्यापी बैलकी पूजा किसान करता है।' टीकाकारोंने इस एक ऋचाके पांच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। यह बैल है भी विचित्र! आकाशमें गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमें फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमें मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोंकी सेवा करेगा, तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरको अर्पण हो जायेगी।

19. इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी, जो चौका लगाकर रसोईघरको साफ-

सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्त्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोंको पुष्टि-तुष्टिदायक हो, तो उसका यह सारा कर्म यज्ञरूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञकुंड ही जलाया है। परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमें रखकर जो भोजन तैयार किया जायेगा, वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जरा इसकी कल्पना तो कीजिए। यदि उस गृहलक्ष्मीके मनमें ऐसी उच्च भावना हो, तो उसे फिर भागवतकी ऋषि-पत्नियोंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएं सेवा करके तर गयी होंगी और 'मैं-मैं' करनेवाले पंडित और ज्ञानी कोनेमें ही पड़े रहे होंगे।

46. सारा जीवन हरिमय हो सकता है

20. हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन मामूली दिखायी देता हो, तो भी वह वास्तवमें वैसा नहीं होता। उसमें बड़ा अर्थ भरा है। सारा जीवन एक महान यज्ञ-कर्म ही है। आपकी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोंको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे, तो वह समाधि नहीं तो क्या होगी ? हम लोगोंमें स्नान करते समय पुरुषसूक्तके पाठ करनेकी रूढ़ि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नानकी क्रियासे इस पुरुषसूक्तका क्या संबंध ? देखना चाहोगे तो संबंध जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आंखें हैं, उसका मेरे इस स्नानसे क्या संबंध! संबंध यह कि तुम जो लोटाभर जल सिर पर डालते हो, उसमें हजारों बूंदें हैं। वे बूंदें तुम्हारा मस्तक धो रही हैं— तुम्हें निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तक पर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोंसे सहस्रधारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूंदोंके रूपमें मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अंदरका मैल धो रहा है। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमें उंड़ेलो, तो वह स्नान कुछ निराला ही हो जायेगा, उस स्नानमें अनंत शक्ति आ जायेगी।

21. कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वरका है तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है, यह बात अनुभवसिद्ध है। मनमें जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वररूप

है। मामूली तौर पर कोई बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है, तो हम कितनी सफाई रखते हैं और कैसा बढ़िया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करें कि यह परमेश्वर है, तो भला बताओ, हमारी उस क्रियामें कितना फर्क पड़ जायेगा ? कबीर कपड़े बुनता था। उसीमें निमग्न होकर वह गाता— **झीनी झीनी बीनी चदरिया।** वह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वरको ओढ़ानेके लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है–**वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयुः।** ''मैं अपना यह स्तोत्र सुंदर हाथोंसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको पहनाता हूं।'' कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है, सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार! यह भावना यदि जीवनमें एक बार आ जाये, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायेगा! अंधेरेमें बिजली चमकती है, तो वह अंधेरा एक क्षणमें प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है ? नहीं, एक क्षणमें ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड़ देते ही जीवनमें एकदम अद्‌भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगती है। जीवनमें उत्साहका संचार होता है। आज हमारे जीवनमें उत्साह है कहां ? हम जी रहे हैं, क्योंकि मरते नहीं। उत्साहका चारों ओर अकाल है। कलाहीन रोता जीवन! परंतु जरा यह भाव मनमें लाओ कि हमें अपनी सब क्रियाएं ईश्वरके साथ जोड़नी हैं। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जाता है।

22. इसमें शक नहीं कि परमेश्वरके एक नाममात्रसे झट् परिवर्तन हो जाता है। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है! जरा कहकर तो देखो! कल्पना करो कि संध्या समय किसान काम करके घर लौट रहा है। रास्तेमें उसे कोई यात्री मिल जाता है। वह उससे कहता है— **चाल घरा उभा राहे नारायणा।** 'हे पदयात्री नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आयी। भगवन्, मेरे घर चलो।' उस किसानके मुंहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नहीं। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा, तो भी पवित्र हो जायेगा। यह फर्क भावनाके कारण होता है। भावनामें ही सबकुछ भरा है। जीवन

भावनामय है। बीस सालका एक पराया लड़का घर आता है, पिता उसे अपनी कन्या देता है। वह लड़का है तो सिर्फ बीस सालका, परंतु पचास सालका श्वशुर उसके पैर छूता है, यह क्या बात है ? कन्या अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है! वह जिसे दी जाती है, वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति, वरके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ, और आगे बढ़ाओ।

23. कोई कहेगा कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? मैं कहता हूं कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हें सच-झूठ मालूम हो जायेगा। उस कन्यादानमें कोरी शाब्दिक नहीं, किंतु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देखोगे कि कितना फर्क पड़ जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्वरूप और उत्तररूपमें आकाश-पातालका अंतर पड़ जायेगा। कुपात्र सुपात्र बन जायेगा। दुष्ट सुष्ट बन जायेगा। वाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न ? वीणा पर उंगलियां नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है और मारनेके लिए दौड़ने पर भी शांति डिगती नहीं, बल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है— वाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नहीं देखा था। उसने अभी तक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे— एक तो उसकी कुल्हाड़ी देखकर भाग जानेवाले या उलटकर उसपर हमला करनेवाले। परंतु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शांत भावसे खड़े रहे। वाल्याकी कुल्हाड़ी रुक गयी। नारदकी न भौहें हिलीं, न आंखें झपकीं, मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी रहा। नारदने वाल्यासे पूछा— "तुम्हारी कुल्हाड़ी क्यों रुक गयी ?" वाल्याने कहा— "आपके शांत भावको देखकर।" नारदने वाल्याका रूपांतर कर दिया। वह रूपांतर झूठ था या सच ?

24. सचमुच संसारमें कोई दुष्ट है या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे ? कोई असली दुष्ट आ जाये तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट हो भी, तो संत बन जायेगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें ? मैं कहता हूं, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है ? कछ लोग कहते हैं कि सज्जन

लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हें सबकुछ अच्छा दिखायी पड़ता है, किंतु वास्तवमें ऐसा नहीं होता। तो फिर तुम्हें जैसा दिखायी देता है, उसीको सच मान लें ? सृष्टिका सम्यक्ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोंके ही पास है। यह क्यों न कहें कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हें दुष्ट दिखायी देती है। देखो, सृष्टि तो आईना है। तुम जैसे होगे, वैसा ही सामनेकी सृष्टिमें तुम्हारा प्रतिबिंब दिखायी देगा। जैसी तुम्हारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप! इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियामें भी ऐसी भावनाका संचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान यही बात समझा देना चाहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

— 'तुम जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवानको अर्पण कर दो।'

25. मेरी मां बचपनमें एक कहानी सुनाया करती थी। बात मजेदार है, परंतु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करूंगी, कृष्णार्पण कर दूंगी। चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टीका गोला बनाकर बाहर फेंकती और कह देती— 'कृष्णार्पणमस्तु।' होता क्या था कि वह गोबरका गोला वहांसे उठता और मंदिरमें भगवानकी मूर्तिके मुंह पर जा चिपकता। पुजारी बेचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर करे क्या ? अंतमें मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जब तक वह स्त्री जीवित है, तब तक मूर्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार पड़ गयी। मरणकी अंतिम घड़ी निकट आ गयी। उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मंदिरकी मूर्तिके टुकड़े-टुकड़े हो गये। मूर्ति टूटकर गिर पड़ी। स्वर्गसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मंदिरसे टकराया और वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्णके ध्यानके सामने व्यर्थ है।

26. सारांश यह कि जो कुछ भले-बुरे कर्म हमसे बन पड़े, उन सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वारका

दाना यों कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढ़िया फूली बन जाती है! साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित और शानदार वह फूली उस दानेके पास रखकर तो देखो! कितना अंतर है! मगर वह फूली है उस दानेकी ही, इसमें संदेह नहीं। यह अंतर केवल अग्निके कारण हो गया। इसी तरह उस कड़े दानेको चक्कीमें डालकर पीसो, तो उसका मुलायम आटा बन जायेगा। अग्निके संपर्कसे फूली बन गयी, चक्कीमें डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरिस्मरणरूपी संस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायेगी। भावनासे मोल बढ़ जाता है। वह गुड़हलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियां, तुलसीकी मंजरी और दूबके तिनके, इन्हें तुच्छ मत मानो— **तुका म्हणे चवी आलें। जें कां मिश्रित विठ्ठलें—** 'तुका कहता है कि जो भी राम-मिश्रित हो जाता है, उसमें स्वाद आ जाता है।' प्रत्येक बातमें भगवानको मिला दो और फिर अनुभव करो, इस रामरूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या ? इस दिव्य मसालेसे बढ़कर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे ? यही ईश्वररूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामें मिला दो, फिर सबकुछ सुंदर और रुचिकर हो जायेगा।

27. रातको आठ बजे, जब मंदिरमें आरती हो रही हो, धूपकी सुगंध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हों, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माके दर्शन कर रहे हैं। भगवान दिनभर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते हैं— **सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।**

पर शंकाशील पूछता है— "भला, भगवान भी कहीं सोता है ?" अरे भगवान क्या नहीं करता! भले आदमी, अगर भगवान सोता नहीं, जागता नहीं तो क्या पत्थर सोयेगा, जागेगा ? भाई, भगवान ही सोता है, भगवान ही जागता है, और भगवान ही खाता-पीता है। तुलसीदासजी प्रात:कालके समय भगवानको जगाते हैं, विनय करते हैं— **जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी बन बोले।** अपने भाई-बहनोंको, स्त्री-पुरुषोंको रामचंद्रकी मूर्ति मानकर वे कहते हैं— "मेरे रामचंद्रो, अब उठो।" कितना सुंदर विचार है! नहीं तो किसी बोर्डिंगको देखो। वहां लड़कोंको उठाते समय डांटकर कहते हैं— "अरे, उठते हो कि नहीं ?"

प्रातःकालकी मंगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है ? विश्वामित्रके आश्रममें रामचंद्रजी सो रहे हैं। विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। वाल्मीकि-रामायणमें उसका वर्णन है—

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा संध्या प्रवर्तते॥

"बेटा राम, उठो अब!" ऐसी मीठी वाणीसे विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। कितना मधुर है यह कर्म! बोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश! उस सोते हुए लड़केको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका वैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परंतु पुकारनेमें कर्कशता, कठोरता बिलकुल न हो। यदि न जगे, तो फिर दस मिनटके बाद जगाओ। आशा रखो कि आज नहीं तो कल (जल्दी) उठेगा। उसे जगानेके लिए मीठे-मीठे भजन, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी क्रिया मामूली है परंतु उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुंदर बना सकते हैं! मानो भगवानको ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है। नींदसे कैसे जगाना, इसका भी एक शास्त्र है।

28. अपने सब व्यवहारोंमें इस कल्पनाको लाओ। शिक्षाशास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बड़ी ही आवश्यकता है। लड़के क्या हैं, प्रभुकी मूर्तियां हैं। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मैं इन देवताओंकी ही सेवा कर रहा हूं। तब वह लड़कोंको ऐसे नहीं झिड़केगा— "चला जा अपने घर! खड़ा रह घंटेभर। हाथ आगे कर। कैसे मैले कपड़े हैं! नाकसे कितनी रेंट बह रही है!" बल्कि हल्के हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपड़े धो देगा और फटे कपड़े सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करे, तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीटकर कहीं अच्छा नतीजा निकाला जा सकता है ? लड़कोंको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु शिष्योंको हरिमूर्ति और शिष्य गुरुको हरिमूर्ति मानें। परस्पर ऐसी भावना रखकर यदि दोनों व्यवहार करें, तो विद्या तेजस्वी होगी। लड़के भी भगवान और गुरु भी भगवान! यदि छात्र यह मान लें कि ये गुरु नहीं, भगवान शंकरकी मूर्ति हैं, हम इनसे बोधामृत पा रहे हैं, इनकी सेवा करके

ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, तो फिर सोच लीजिए कि वे गुरुके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

47. पापका भय नहीं

29. सब जगह प्रभु विराजमान हैं, ऐसी भावना चित्तमें जम जाये, तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करें, यह नीति-शास्त्र हमारे अंतःकरणमें अपने-आप स्फुरित होने लगेगा। शास्त्र पढ़नेकी जरूरत ही नहीं रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायेंगे, पाप भाग जायेंगे, दुरितोंका तिमिर हट जायेगा।

तुकारामने कहा है-

चाल केलासी मोकळा। बोल विठ्ठल वेळोवेळां।
तुज पाप चि नाहीं ऐसें। नाम घेतां जवळीं वसे॥

— 'चल तुझे छुट्टी देता हूं। हर श्वास पर विठ्ठलका नाम ले। तेरा ऐसा एक भी पाप नहीं है, जो नाम लेने पर भी तेरे पास बना रहे।' अच्छा चलो तुम्हें पाप करनेकी छुट्टी! मैं देखता हूं कि तुम पाप करनेसे थकते हो या हरि-नाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबर्दस्त और मगरूर पाप है, जो हरि-नामके सामने टिक सकता है ? **करीं तुजसी करवती**— 'करो चाहे जितने पाप।' तुमसे जितने पाप बन सकें, करो। तुम्हें खुली छूट है। होने दो हरि-नामकी और तुम्हारे पापोंकी कुश्ती! अरे, इस हरि-नाममें इस जन्मके ही नहीं, अनंत जन्मोंके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेका सामर्थ्य है। गुफामें अनंत युगका अंधकार भरा हो, तो भी एक दियासलाई जलाते ही वह भाग जाता है। वह अंधकार प्रकाश बन जाता है। पाप जितने पुराने, उतने ही जल्दी वे नष्ट होते हैं, क्योंकि वे मरनेको ही होते हैं। पुरानी लकड़ियोंको राख होते देर नहीं लगती।

30. राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नहीं सकता। बच्चे कहते हैं कि राम कहते ही भूत भागता है। हम बचपनमें रातको श्मशान हो आते थे। श्मशानमें जाकर मेख ठोंखकर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको सांप भी रहते, कांटे भी रहते, बाहर चारों ओर अंधकार रहता, फिर भी कुछ नहीं लगता। भूत कभी दिखायी नहीं दिया। कल्पनाके ही तो भूत! फिर दीखने क्यों लगें ? दस वर्षके बच्चेमें रातको श्मशानमें जा आनेका सामर्थ्य कहांसे आ गया ? राम-नामसे। वह

सामर्थ्य सत्यरूप परमात्माका था। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है, तो सारी दुनिया उलट पड़े, तो भी हरिका दास भयभीत नहीं होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? भले ही राक्षस उसका शरीर खाकर पचा डाले, पर उसे सत्य पचनेवाला नहीं। सत्यको पचा लेनेकी शक्ति संसारमें कहीं नहीं। ईश्वर-नामके सामने पाप टिक ही नहीं सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य बन जायेगा, मलिन जीवन सुंदर बन जायेगा।

48. थोड़ा भी मधुर

31. **पत्रं पुष्पं फलं तोयम्**— कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो पर्याप्त है। कितना दिया, कितना चढ़ाया, यह भी मुद्दा नहीं, किस भावनासे दिया, यह मुद्दा है।

एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी बात चल रही थी! वह शिक्षण-शास्त्रसंबंधी थी। हम दोनोंके विचार मिलते नहीं थे। अंतमें प्रोफेसरने कहा— "भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हूं।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परंतु ऐसा न करते हुए जब उन्होंने मुझे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हूं, तो मैंने उनसे मजाकमें कहा— "अठारह साल तक बैल यदि यंत्रके साथ घूमता रहे, तो क्या वह यंत्र-शास्त्रज्ञ हो जायेगा ?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और है, आंख मूंदकर चक्कर काटनेवाला बैल और। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और है और शिक्षाका बोझ ढोनेवाला और। जो शास्त्रज्ञ होगा, वह छह महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह साल तक बोझा ढोनेवाला मजदूर समझ भी नहीं सकेगा। सारांश यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी दाढ़ी दिखायी कि मैंने इतने साल काम किया है, किंतु दाढ़ीसे सत्य सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी तरह परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नहीं है। मुद्दा नापका, आकारका, कीमतका नहीं है; मुद्दा भावनाका है। कितना, क्या अर्पण किया, इससे मतलब नहीं; बल्कि कैसे किया, यह मुद्दा है। गीतामें सात सौ ही

श्लोक हैं। पर ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिनमें दस-दस हजार श्लोक हैं। किंतु वस्तुका आकार बड़ा होनेसे उसका उपयोग भी अधिक होगा, ऐसा नहीं कह सकते। देखनेकी बात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है। जीवनमें कितनी क्रिया की है इसका महत्त्व नहीं। ईश्वरार्पण-बुद्धिसे यदि एक भी क्रिया की हो, तो वही हमें पूरा अनुभव करा देगी। कभी-कभी एक ही पवित्र क्षणमें हमें ऐसा अनुभव होता है, जैसा बारह-बारह वर्षोंमें भी नहीं हो पाता।

32. आशय यह कि जीवनके सादे कर्मोंको, सादी क्रियाओंको परमेश्वरको अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायेगा। मोक्ष हाथ लग जायेगा। कर्म करके और उसका फल न छोड़कर उसे ईश्वरको अर्पण कर देना— ऐसा यह राज-योग, कर्म-योगसे भी एक कदम बढ़कर है।

कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोड़ो। फलकी आशा मत रखो।" यहां कर्म-योग समाप्त हो गया। राज-योग कहता है, "कर्म-फलोंको छोड़ो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरको अर्पण कर दो। वे फूल हैं, तुम्हें आगे ले जानेवाले साधन हैं, उन्हें उस मूर्ति पर चढ़ा दो।"

एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्ति जोड़कर जीवनको सुंदर बनाते चलो। फलोंको त्यागो मत। उन्हें फेंकना नहीं, बल्कि भगवानसे जोड़ देना है। कर्म-योगमें जो फल तोड़ दिया, उसे राज-योगमें जोड़ दिया जाता है। बोने और फेंक देनेमें फर्क है। बोया हुआ थोड़ा भी अनंतगुना होकर मिलता है। फेंका हुआ यों ही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरको अर्पण किया गया है, उसे बोया हुआ समझो। उससे जीवनमें अपार आनंद भर जायेगा, अपार पवित्रता आ जायेगी।

रविवार, 17-4-32

दसवां अध्याय

विभूति-चिंतन

49. गीताके पूर्वार्ध पर दृष्टि

1. मित्रो, गीताका पूर्वार्ध समाप्त हो गया। उत्तरार्धमें प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम समाप्त कर चुके, उसका थोड़ेमें सार देख लें, तो अच्छा होगा। पहले अध्यायमें बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए और स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए है। दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धांत, कर्मयोग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमें हुआ। तीसरे, चौथे और पांचवें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्मका स्पष्टीकरण हुआ। कर्मका अर्थ है— स्वधर्माचरण करना। विकर्मका अर्थ है— वह मानसिक कर्म जो बाहरसे स्वधर्माचरणका कर्म करते हुए उसकी सहायताके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म, दोनोंके एकरूप होने पर जब चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मैल धुल जाते हैं, वासना जाती रहती है, विकार शांत हो जाते हैं, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म-दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म-दशा भी दो प्रकारकी बतायी गयी है। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म न कर रहे हों, ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए, सतत कर्म करते रहना। इस तरह अकर्म-दशा दो प्रकारोंसे सिद्ध होती है। ये दो प्रकार यों अलग-अलग दिखायी देते हैं, तथापि हैं पूर्णरूपसे एक ही। इन्हें कर्म-योग और संन्यास, ऐसे दो नाम दिये गये हैं, फिर भी भीतरकी सारवस्तु दोनोंमें एक ही है। अकर्म-दशा अंतिम साध्य, आखिरी मंज़िल है। इस स्थितिको ही 'मोक्ष' संज्ञा दी गयी है। अतः गीताके पहले पांच अध्यायोंमें जीवनका सारा शास्त्र पूरा हो गया।

2. उसके बाद अकर्मरूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग हैं, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन हैं, उनमेंसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी छठे अध्यायसे शुरुआतकी गयी है। छठे अध्यायमें चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास और वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्यायमें विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया है। ईश्वरकी

ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु-बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ या व्यक्तिगत कामनासे जाओ— किसी भी तरीकेसे जाओ, परन्तु एक बार उसके दरबारमें पहुंच जरूर जाओ। इस अध्यायका नाम मैंने 'प्रपत्ति-योग' अर्थात् 'ईश्वरकी शरणमें जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग' दिया है। सातवेंमें प्रपत्ति-योग बताकर आठवेंमें 'सातत्य-योग' बताया है। मैं जो ये नाम बता रहा हूं, वे पुस्तकमें नहीं मिलेंगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए, वही मैं दे रहा हूं। सातत्य-योगका अर्थ है— अपनी साधनाको अंतकाल तक सतत चालू रखना। जिस रास्ते पर एक बार चल पड़े, उसीपर लगातार कदम बढ़ाते जाना। कभी चले, कभी नहीं ऐसा करनेसे मंज़िल पर पहुंचनेकी कभी आशा नहीं हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि कहां तक साधना करते रहें ? जब तक फल न मिले, तब तक साधना जारी रखनी चाहिए।

3. इस सातत्य-योगका परिचय देकर नौवें अध्यायमें बहुत मामूली, परंतु जीवनका सारा रंग ही बदल देनेवाली एक बात भगवानने बतायी है, और वह है 'राज-योग'। नौवां अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घड़ी होते हैं, वे सब ईश्वरार्पण कर दो। इस एक ही बातमें सारे शास्त्रसाधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमें विलीन हो गयी। समर्पण-योगको ही 'राज-योग' कहते हैं। यहां सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पणरूपी साधन यों बहुत मामूली और आसान दीखता है, परंतु हो बैठा है अत्यंत कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि अपने ही घरमें बैठकर गंवार देहातीसे लेकर महा विद्वान तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालांकि यह इतनी सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बड़े भारी पुण्यकी जरूरत है।

बहुतां सुकृतांची जोडी। म्हणुनी विठ्ठलीं आवडी— 'अनेक सुकृतोंका योग हुआ है, इसलिए विठ्ठलमें प्रेम उत्पन्न हुआ है।' अनंत जन्मोंका पुण्य संचित होता है, तभी ईश्वरमें प्रीति उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो, आंखोंसे आंसुओंकी धारा लग जाती है। परंतु भगवानका नाम लेने पर आंखोंमें दो बूंद आंसू भी नहीं आते— इसका उपाय क्या ? संतोंके कथनानुसार एक तरहसे यह

साधना बहुत ही सरल है। परंतु दूसरी तरहसे वह कठिन भी है और आजकल तो और भी कठिन हो गयी है।

4. आज तो जड़वादका पर्दा हमारी आंखों पर पड़ा हुआ है। आज तो श्रीगणेश यहींसे होता है कि ईश्वर कहीं है भी ? वह कहीं भी किसीको प्रतीत ही नहीं होता। सारा जीवन विकारमय विषयलोलुप और विषमतासे भरा है। इस समय तो ऊंचे-ऊंचे विचार करनेवाले जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके भी विचार इस बातसे आगे नहीं जा पा रहे कि सबको पेटभर रोटी कैसे मिलेगी! इसमें उनका दोष नहीं; क्योंकि आज हालत ऐसी है कि बहुतोंको खानेको भी नहीं मिलता। आजकी बड़ी समस्या है— रोटी। इस समस्याको हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्याकी है— **बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते।** 'भूखे लोग ही रुद्रके अवतार हैं।' उनकी क्षुधा-शांतिके लिए अनेक तत्त्वज्ञान, अनेक वाद और राजनीतिके अनेक प्रकार उठ खड़े हुए हैं। इन समस्याओंमेंसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नहीं। आज हमारे सारे भगीरथ-प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे हैं कि परस्पर न लड़ते हुए सुख-शांतिसे और प्रसन्न मनसे दो कौर रोटी कैसे खायें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमें हो रही है, वहां ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे, तो क्या आश्चर्य! परंतु इसका उपाय क्या है ? दसवें अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले हैं कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाये, कैसे सरल बनाया जाये।

50. परमेश्वर-दर्शनकी सुबोध रीति

5. छोटे बच्चोंको पढ़ानेके लिए जो उपाय हम करते हैं, वही उपाय परमात्माका सर्वत्र दर्शन करनेके लिए इस अध्यायमें बताया गया है। बच्चोंको वर्णमाला दो तरहसे सिखायी जाती है। एक तरकीब है, पहले बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर उन्हीं अक्षरोंको छोटा लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग'; परंतु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि है, पहले सीधे-सादे सरल अक्षर और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर सिखानेकी। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरंत आंखोंमें समा

जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ जाये, तो एक जल-बिंदुमें, मिट्टीके एक कणमें, वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आ जायेगा। बड़े 'क' और छोटे 'क' में अंतर नहीं। जो स्थूलमें वहीं सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई। दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देखें, फिर उसके जटिलरूपको। जिस व्यक्तिमें शुद्ध परमेश्वरीय आविर्भाव सहजरूपसे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममें प्रकटित परमेश्वरीय आविर्भाव तुरंत मन पर अंकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझटका परमेश्वर है। परंतु रावण ? यह संयुक्ताक्षर है। उसमें कुछ मिश्रण है। रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान है। परंतु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले रामरूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेमभाव है, ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरंत पकड़में आ ज़ायेगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमें जरा देर लगेगी। पहले सरल अक्षर, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अंतमें दुर्जनोंमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए। समुद्रस्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूंदमें है। रामचंद्रके अंदरका परमेश्वर ही रावणमें है। जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही कठिनमें भी। इन दो विधियोंसे हमें यह संसाररूपी ग्रंथ पढ़ना सीखना है।

6. यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आंखों पर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बंद हुई-सी जान पड़ती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमें सुंदर अक्षरोंमें सर्वत्र परमेश्वर लिखा हुआ है। परंतु वह हमें दिखायी नहीं देता। ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है। वह यह कि मामूली, सरल, नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता और दूरका प्रखररूप उसे हजम नहीं होता। यदि किसीसे कहें कि मातामें ईश्वरको देखो, तो वह कहेगा— "क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है ?" पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ, तो उसका तेज तुम सह सकोगे ? कुंतीकी इच्छा हुई कि वह दूरवाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परंतु उसके निकट आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन नहीं हुआ। ईश्वर यदि अपने सारे सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाये, तो हमें पचता नहीं। यदि माताके सौम्यरूपमें आकर खड़ा हो जाये, तो जंचता

नहीं। पेड़ा-बर्फी पचती नहीं और मामूली दूध रुचता नहीं। ये लक्षण हैं फूटी किस्मतके, मरणके। ऐसी यह रुग्ण मन:स्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है। इस मन:स्थितिका त्याग करना चाहिए। पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्माको पढ़ लें और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढ़ें।

51. मानवस्थित परमेश्वर

7. परमेश्वरकी बिलकुल पहली मूर्ति जो हमारे पास है, वह है स्वयं हमारी मां। श्रुति कहती है— **मातृदेवो भव**। पैदा होते ही बच्चेको मांके सिवा और कौन दिखायी देता है ? वत्सलताके रूपमें वह परमेश्वरकी मूर्ति ही वहां खड़ी है। उस माताकी ही व्याप्तिको हम बढ़ा लें और **वंदे मातरम्** कहकर राष्ट्रमाताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वीकी पूजा करें। परंतु प्रारंभमें सबसे ऊंची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा, जो बच्चोंके सामने आती है, वह है माताके रूपमें। माताकी पूजासे मोक्ष मिलना असंभव नहीं है। माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलतासे खड़े परमेश्वरकी ही पूजा है। मां तो एक निमित्तमात्र है। परमेश्वर उसमें अपनी वत्सलता उंड़ेलकर उसे नचाता है। उस बेचारीको मालूम भी नहीं होता कि इतनी माया-ममता भीतरसे क्यों उमड़ती है ? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चोंका लालन-पालन करती है कि बुढ़ापेमें काम आयेगा ? नहीं-नहीं, उसने उस बालकको जन्म दिया है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। इन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाएं उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रह ही नहीं सकती। वह लाचार है। वह मां मानो निस्सीम सेवाकी मूर्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है, तो वह है, मातृ-पूजा। ईश्वरको 'मां' के नामसे ही पुकारो। 'मां' से बढ़कर और ऊंचा शब्द है कहां ? मां पहला स्थूल अक्षर है। उसमें परमेश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते हैं। वे हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने हैं उनके उपकार! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु संत। अत्यंत स्थूलरूपमें खड़े इस परमेश्वरको पहले देखो। यदि परमेश्वर यहां नहीं दिखायी देगा, तो फिर दीखेगा कहां ?

8. माता, पिता, गुरु, संत—इनमें परमात्माको देखो। इसी तरह यदि छोटे

बालकोंमें भी हम परमात्माको देख सकें तो कितना मजा आये ? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार— ये सब छोटे बालक ही तो थे। परंतु पुराणकारोंको, व्यासादिको समझमें नहीं आता कि उन्हें कहां रखें, कहां न रखें ? शुकदेव, शंकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सब-के-सब बालक! परंतु उनमें परमेश्वर जितने शुद्धरूपमें प्रकट हुआ है, उतना कहीं अन्यत्र नहीं। ईसा मसीह बच्चोंको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्योंने उनसे पूछा— "आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते हैं, उस ईश्वरके राज्यमें कौन जा सकेगा ?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेज पर खड़ा करके कहा— "जो इस बच्चेकी तरह होंगे, वे वहां जा सकेंगे।" ईसाका कहना पूर्णतः सत्य था। रामदास स्वामी एक बार बच्चोंके साथ खेल रहे थे। बच्चोंके साथ समर्थ खेल रहे हैं, यह देखकर कुछ बड़े-बूढ़ोंको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा— "यह आज आप क्या कर रहे हैं ?" समर्थने जवाब दिया— वयें पोर ते थोर होऊन गेले। वयें थोर ते चोर होऊन ठेले।— 'आयुमें जो छोटे थे, वे बड़े हो गये और आयुमें जो बड़े थे, वे चोर साबित हुए।'

उम्र बढ़ती है तो सींग फूटते हैं, फिर परमेश्वरका स्मरण कहां! छोटे बच्चोंके मन पर कोई लेप नहीं रहता। उनकी बुद्धि निर्मल होती है। बच्चेको हम सिखाते हैं— "झूठ मत बोलो।" वह पूछता है— 'झूठ किसे कहते हैं ?' तब उसे सत्यका सिद्धांत बताते हैं, "बात जैसी हो, वैसी ही कहनी चाहिए।" बच्चा उलझनमें पड़ता है कि क्या जैसा हो वैसा कहनेके अलावा भी कोई दूसरा तरीका है ? जैसा न हो, वैसा कहें कैसे ? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो, ऐसा ही समझाने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे विशुद्ध परमात्माकी मूर्ति हैं। प्रौढ़ लोग उन्हें गलत शिक्षा देते हैं। सारांश, मां, बाप, गुरु, संत, बच्चे इनमें यदि हम परमात्माको न देख सकें, तो फिर किस रूपमें देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नहीं है। परमेश्वरके इन सादे, सौम्य रूपोंको पहले पहचानो। इनमें परमेश्वर स्पष्ट और मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ है।

52. सृष्टिस्थित परमेश्वर

9. पहले हम मानवकी सौम्यतम और पावन मूर्तियोंमें परमात्माका दर्शन करना

सीखें। उसी तरह इस सृष्टिमें भी जो-जो विशाल और मनोहर रूप हैं, उनमें उसके दर्शन पहले करें।

10. वह उषा! सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा! उस उषा देवीके गीत गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगते थे— "उषे, तू परमेश्वरका संदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिमकणोंसे नहाकर आयी है। तू अमृतत्वकी पताका है।" ऐसे भव्य और हृदयस्पर्शी वर्णन ऋषियोंने उषाके किये हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं— "तू जो परमेश्वरकी संदेश-वाहिका है, तुझे देखकर यदि परमेश्वरकी पहचान मुझे न हो, उसके स्वरूपका ज्ञान न हो, तो फिर मुझे परमेश्वरका स्वरूप कौन समझा सकेगा ?" इतने सुंदर रूपमें सज-धजकर यह उषा सामने खड़ी है, परंतु हमारी दृष्टि उसपर जाती कहां है ?

11. उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन हैं। वह नाना प्रकारके रंग-बिरंगे चित्र आकाशमें खींचता है। चित्रकार महीनों तक कूंची चलाकर सूर्योदयके चित्र बनाते रहते हैं। प्रातःकालमें उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो! उस दिव्य कलाके लिए, उस अनंत सौंदर्यके लिए भला कोई उपमा दी जा सकेगी ? परंतु देखता कौन है ? उधर वह सुंदर भगवान खड़ा है और इधर यह मुंह पर और भी रजाई ओढ़कर नींदमें पड़ा है! सूर्य कहता है— "अरे आलसी, तू पड़ा रहना चाहेगा, किंतु मैं तुझे अवश्य उठाऊंगा।" ऐसा कहकर वह अपनी जीवनदायी किरणें खिड़कियों में से भेजकर उस आलसीको जगा देता है। **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**— सूर्य समस्त स्थावर-जंगमकी आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है— **मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणः, मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्**— 'यह मित्र लोगोंको पुकारता है, उन्हें काममें लगाता है। उसने स्वर्ग और पृथ्वीका धारण किया है।' सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमें परमात्माके दर्शन करो।

12. और वह पावन गंगा! जब मैं काशीमें था, तो गंगाके किनारे जाकर बैठता था। रात्रिके एकांत समयमें जाता था। कितना सुंदर और प्रसन्न उसका प्रवाह! उसका वह भव्य-गंभीर प्रवाह और उसमें प्रतिबिंबित वे आकाशके अनंत

तारे! मैं मुग्ध हो जाता। शंकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गंगा, जिसके तीर पर राज-पाटको तृणवत् त्यागकर राजा लोग तप करने जा बैठते थे, उस गंगाका दर्शन करके मुझे असीम शांति मिलती थी। उस शांतिका वर्णन मैं कैसे करूं ? वाणीकी वहां सीमा आ जाती है। यह समझमें आता कि हिंदू यह क्यों चाहता है कि मरने पर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गंगामें पड़े। आप हंसिए, आपके हंसनेसे कुछ बिगड़ता नहीं। परंतु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और संग्रहणीय लगती हैं। मरते समय गंगा-जलकी दो बूंदें मुंहमें डालते हैं। ये दो बूंदें क्या हैं ? मानो परमेश्वर ही मुंहमें उतर आता है। उस गंगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतर-बाहरका कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही है, बहा ले जा रही है। गंगामातामें यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखायी दे, तो कहां दिखायी देगा ? सूर्य, नदियां, धू-धू करके हिलोरें मारनेवाला वह विशाल सागर— ये सब परमेश्वरकी ही मूर्तियां हैं।

13. और वह पवन! कहांसे आता है, कहां जाता है, कुछ पता नहीं। मानो भगवानका दूत ही है। हिंदुस्तानमें कुछ वायु स्थिर हिमालय परसे आती है, कुछ गंभीर सागर परसे। यह पवित्र वायु हमारे हृदयको छूती है, हमें जागृत करती है, हमारे कानोंमें गुनगुनाती है। परंतु इस वायुका संदेश सुनता कौन है ? जेलरने यदि हमारा चार पंक्तियोंका पत्र न दिया, तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मंदभागी क्या रखा है उस चिट्ठीमें ? परमेश्वरका यह प्रेमभरा संदेश वायुके साथ हर घड़ी आ रहा है, उसे सुन!

14. वेदोंमें अग्निकी उपासना बतायी गयी है। अग्नि साक्षात् नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकड़ियोंको रगड़ते ही वह प्रकट हो जाता है। कौन जाने पहले कहां छिपा था! कितना गरम, कितना तेजस्वी! वेदोंकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोंका आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाएं देखनेसे मुझे जीवात्माकी छटपटाहट याद आ जाती है। वे ज्वालाएं,

वे लपटें, चाहे घरके चूल्हेकी हों, चाहे जंगलके दावाग्निकी हों। विरक्तको घर-बार नहीं होता। वे ज्वालाएं जहां होंगी, वहां उनकी वह दौड़-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती हैं। वे ज्वालाएं ऊपर जानेके लिए आतुर रहती हैं। ये वैज्ञानिक कहेंगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाएं हिलती हैं, हवाके दबावके कारण हिलती हैं। परंतु मेरा तो अर्थ यह है कि ऊपर जो परमात्मा है, तेजस्-समुद्र सूर्यनारायण है, उससे मिलनेके लिए वे निरंतर उछल रही हैं। जन्मसे लेकर मृत्यु तक उनकी दौड़-धूप जारी रहती है। सूर्य अंशी है और ये ज्वालाएं अंश हैं। अंश अंशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटें बुझ जायेंगी, तभी वह दौड़-धूप बंद होगी, वरना नहीं। सूर्यसे हम बहुत दूरी पर हैं, यह विचार भी उनके मनमें नहीं आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्तिभर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जायें। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें प्रज्वलित वैराग्य ही प्रकट हुआ है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि निकली—**अग्निमीळे!**

53. प्राणीस्थित परमेश्वर

15. और हमारे घरके मवेशी। वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममतामयी और प्रेममयी! दो-दो, तीन-तीन मीलसे, जंगल-झाड़ियोंसे अपने बछड़ोंके लिए कैसी दौड़ी चली आती है! वैदिक ऋषियोंको, पहाड़ों-पर्वतोंसे स्वच्छ जल-धाराओंको लेकर कल-कल करती हुई दौड़ी आनेवाली, उन नदियोंको देखकर बछड़ोंके लिए दूध-भरे स्तनोंसे रंभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोंकी याद हो आती है। ऋषि नदीसे कहता है— "हे देवि! दूधकी तरह पवित्र, पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय बछड़ेको छोड़कर जंगलमें नहीं रह सकती, वैसे तू भी पर्वतोंमें नहीं रह सकती। तू सरपट दौड़ती हुई प्यासे बालकोंसे मिलनेके लिए आती है।" **वाश्रा इव धेनवः स्यंदमानाः।** वत्सल गायके रूपमें भगवान दरवाजे पर खड़ा है।

16. और वह घोड़ा! कितना उम्दा, कितना ईमानदार, कितना वफादार! अरब लोग अपने घोड़ोंसे कितना प्यार करते हैं! उस अरबकी कहानी आपको मालूम है न ? वह विपत्तिग्रस्त अरब एक सौदागरको घोड़ा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है, परंतु घोड़ेकी उन गंभीर और प्रेमपूर्ण आंखों पर उसकी निगाह पड़ती

है, तो वह मोहरोंकी थैली फेंक देता है और कहता है कि "मेरी जान चली जाये, पर मैं घोड़ा नहीं बेचूंगा। मेरा जो होगा, सो होगा। खाना न मिलेगा, तो न सही। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही वह कैसे प्रेमसे फुरफुराता है! कैसा बढ़िया उसका आयाल! सचमुच घोड़ेमें अनमोल गुण हैं। उस साइकिलमें क्या रखा है? घोड़ेको खरहरा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोड़े पर बैठना सीख रहा था। घोड़ा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा— "घोड़ा तो बैठने ही नहीं देता।" मैंने उससे कहा— "तुम सिर्फ घोड़े पर बैठने ही जाते हो या उसकी कुछ सेवा भी करते हो? सेवा करे दूसरा और पीठ पर सवारी करो तुम, ऐसा कैसे चलेगा? तुम स्वयं उसे दाना-पानी दो, खरहरा करो और तब सवारी करो।" वह मित्र यही करने लगा। कुछ दिनों बाद मुझसे आकर बोला— "अब घोड़ा गिराता नहीं।" घोड़ा तो परमेश्वर है। वह भक्तोंको क्यों गिरायेगा? उसकी भक्ति देखकर घोड़ा झुक गया। घोड़ा जानना चाहता है कि यह भक्त है या कोई पराया आदमी? भगवान श्रीकृष्ण स्वयं खरहरा करते थे और अपने पीतांबरमें दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आयी, नाला आया, कीचड़ आया कि साइकिल रुकी, मगर घोड़ा कूदता-फांदता चला ही जाता है। यह सुंदर प्रेममय घोड़ा मानो परमेश्वरकी ही मूर्ति है।

17. और वह सिंह! बड़ौदामें मैं रहता था। सबेरे-सबेरे ही उसकी गर्जनाकी गंभीर ध्वनि कानोंमें पड़ती। उसकी आवाज इतनी गंभीर और उम्दा होती कि हृदय डोलने लगता। मंदिरके गर्भगृहमें जैसी आवाज गूंजती है, वैसी ही उसके हृदय-गर्भकी वह गंभीर ध्वनि होती थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, सहृदय मुद्रा, उसकी वह शाही शान और शाही वैभव! वह भव्य सुंदर आयाल, मानो चंवर ही उस वनराज पर ढल रहे हों। बड़ौदाके एक बगीचेमें यह सिंह था। वह आजाद नहीं था, पिंजड़ेमें चक्कर काटता था। उसकी आंखोंमें क्रूरताका नाम भी नहीं था। उसकी मुद्रा और दृष्टिमें करुणा भरी थी। संसारकी मानो उसे कोई चिंता ही नहीं थी। अपने ही ध्यानमें वह मग्न दिखायी देता था। सचमुच ही ऐसा लगता था, मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें

एण्ड्रोक्लीज और सिंहकी कहानी पढ़ी थी। कितनी बढ़िया कहानी है वह! वह भूखा सिंह एण्ड्रोक्लीजके पहलेके उपकारको स्मरण करके उसका मित्र बन जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। यह क्या है ? एण्ड्रोक्लीजने सिंहमें रहने वाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान शंकरके पास सिंह सदैव रहता है। सिंह भगवानकी दिव्य विभूति है।

18. और बाघकी भी क्या कम मौज है ? उसमें बड़ा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असंभव नहीं। भगवान पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योंको पाठ पढ़ा रहे थे। इतनेमें बाघ आ गया। बालक घबराकर चिल्लाने लगे— व्याघ्रः! व्याघ्रः! पाणिनिने कहा— "अच्छा, व्याघ्रका अर्थ क्या है ? व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः, अर्थात् जिसकी घ्राणेंद्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोंको भले ही उससे कुछ डर लगा हो, पर भगवान पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनंदमय शब्दमात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परंतु बाघके खा जानेसे क्या हुआ ? पाणिनिके शरीरकी गंध उसे मीठी लगी, उसने खा डाला। परंतु पाणिनि वहांसे भागे नहीं, क्योंकि वे तो शब्दब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सबकुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्दब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महत्ताके कारण ही भाष्योंमें जहां-जहां उनका नाम आता है, वहां-वहां 'भगवान पाणिनि' कहकर पूज्यभावसे उनका उल्लेख किया जाता है। पाणिनिका अत्यंत उपकार मानते हैं—

अज्ञानांधस्य लोकस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान पाणिनि व्याघ्रमें परमात्माका दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेवने कहा है—

घरा येवो पां स्वर्ग। कां वरिपडो व्याघ्र।
परी आत्मबुद्धीसि भंग। कदा नोहे॥

— 'भले ही घरमें स्वर्ग उतर आये या व्याघ्र आकर चढ़ाई कर दे, फिर भी आत्मबुद्धिमें कोई भंग न हो।' ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गयी थी। वे

इस बातको समझ गये थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

19. वैसा ही वह सांप! सांपसे लोग बहुत डरते हैं। परंतु सांप मानो कर्मठ शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ! कितना सुंदर! जरा भी गंदगी उसे बर्दाश्त नहीं होती। गंदे ब्राह्मण कितने ही दिखायी देते हैं, परंतु गंदा सांप कभी किसीने देखा है ? वह मानो एकांतवासी ऋषि ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार जैसा वह सांप! उससे क्या डरना! हमारे पूर्वजोंने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिए कि हिंदू-धर्ममें न जाने कैसी-कैसी मूर्खताएं भरी पड़ी हैं; परंतु नाग-पूजाका विधान उसमें अवश्य है।

बचपनमें मैं अपनी मांके लिए चंदनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मैं मांसे कहता— "बाजारमें तो अच्छा चित्र मिलता है मां !" वह कहती— "वह रद्दी है, मुझे नहीं चाहिए। अपने बच्चोंका बनाया चित्र ही अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजाकी जाती। यह क्या पागलपन है ? परंतु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मासमें अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमें पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा ? दूर एकांतमें रहनेवाला वह ऋषि आपको व्यर्थ कष्ट न हो, इस विचारसे किसी छप्परके नीचे, कहीं लकड़ियोंमें पड़ा रहता है। वह कम-से-कम जगह घेरता है। परंतु हम डंडा लेकर दौड़ते हैं। संकटग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाये, तो क्या उसे मारना उचित है ? कहते हैं कि संत फ्रांसिसको जब जंगलमें सांप दिखायी देता, तो वह उससे बड़े प्रेम-भावसे कहता— "आ, भाई आ!" सांप उसकी गोदमें खेलते, उसके शरीर पर इधर-उधर चढ़ते। इसे झूठ मत समझिए। प्रेममें अवश्य ऐसी शक्ति रहती है।

सांपको विषैला कहा जाता है; परंतु मनुष्य क्या कम विषैला है ? सांप तो कभी-कभी काटता है। जान-बूझकर नहीं काटता। सौमें नब्बे तो निर्विष ही होते हैं। आपकी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करनेवाले असंख्य कीड़ों और जंतुओंको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकांत-प्रिय सर्प भगवानका रूप है। हमारे तमाम देवताओंमें कहीं-न-कहीं सांप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमें हमने सांपका कमर-पट्टा बांध दिया है। शंकरके गलेमें

साँप लपेट दिये हैं और भगवान विष्णुको तो नागशय्या ही दे दी है। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह है कि नागके रूपमें यह ईश्वरीय मूर्ति ही व्यक्त हुई है। इस सर्पस्थ परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

20. ऐसे कितने उदाहरण दूं ? मैं तो केवल कल्पना दे रहा हूं। रामायणका सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामें ही है। रामायणमें पिता-पुत्रोंका प्रेम, मां-बेटोंका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, सबकुछ है; परंतु मुझे रामायण इस कारण प्रिय नहीं है। मुझे वह इसलिए प्रिय है कि रामकी मित्रता वानरोंसे हुई। आजकल कहते हैं कि वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोंका काम ही है, गड़ेको उखाड़ना। उनके इस कार्य पर मैं आपत्ति नहीं उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोंसे मित्रताकी हो, तो इसमें असंभव क्या है ? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमें है कि राम और वानर मित्र हो गये। ऐसा ही कृष्णका और गायोंका संबंध है। सारी कृष्णपूजाका आधार यह कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिए, तो आपको इर्द-गिर्द गायें खड़ी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोंको अलग कर दें, तो फिर कृष्णमें बाकी क्या रहा ? रामसे यदि वानर हटा दिये, तो फिर राममें भी क्या 'राम' रहेगा ? रामने वानरोंमें भी परमात्माके दर्शन किये और उनके साथ प्रेम और घनिष्ठताका संबंध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुंजी! इस कुंजीको आप छोड़ देंगे, तो रामायणकी मधुरता खो देंगे। पिता-पुत्र का, मां-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायेगा, परंतु नर-वानरकी अन्यत्र न दीखनेवाली यह मधुर मैत्री केवल रामायणमें ही मिलेगी। वानरमें स्थित भगवानको रामायणने आत्मसात् किया। वानरोंको देखकर ऋषियोंको बड़ा कौतुक होता था। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तट तक जमीन पर पैर न रखते हुए वे वानर एक पेड़से दूसरे पेड़ पर कूदते-फांदते और क्रीड़ा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमें क्रीड़ा करनेवाले वानरोंको देखकर उन सहृदय ऋषियोंके मनमें कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आंखें कैसी होती हैं, यह बताते हुए उपनिषदोंने बंदरोंकी आंखोंकी उपमा दी है। बंदरोंकी आंखें बड़ी चंचल होती हैं। चारों ओर उनकी निगाह दौड़ती है। ब्रह्मकी आंखें ऐसी ही होनी चाहिए। आंखें स्थिर रखनेसे

ईश्वरका काम नहीं चलेगा। हम-आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते हैं, परंतु यदि ईश्वर ध्यानस्थ हो जाये, तो फिर संसारका क्या हाल होगा ? अतः ऋषियोंको बंदरोंमें सबकी चिंता रखनेवाले ब्रह्मकी आंखें दिखायी देती हैं। वानरोंमें परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

21. और वह मोर! महाराष्ट्रमें मोर बहुत नहीं है, परंतु गुजरातमें उनकी विपुलता है। मैं गुजरातमें था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखायी देते थे। जब आकाशमें बादल छा रहे हों, मेघ बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रंग गहरा श्याम हो गया हो, तब मोर कूकता है। हृदयसे खिंचकर निकलने वाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो, तो पता चले! हमारा सारा संगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनि पर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज है-**षड्जं रौति**। यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला। फिर घटा-बढ़ाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गड़ी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघकी गड़गड़ गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पुच्छकी छतरी! अहा हा! उसकी उस छतरीके सौंदर्यके सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते हैं, परंतु मयूर-पुच्छकी छतरीके सामने वे क्या सजेंगे ? कैसा वह भव्य दृश्य! वे हजारों आंखें, वे नाना रंग, अनंत छटाएं, वह अद्भुत सुंदर, मृदु, रमणीय रचना, वह बेल-बूटा! जरा देखिए तो उस छतरीको और उसमें परमात्मा भी देखिए! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खड़ा है, परंतु उसे न देखनेवाले हम अभागे हैं। तुकारामने कहा— **देव आहे सुकाळ देशीं, अभाग्यासी दुर्भिक्ष**— 'प्रभु, सर्वत्र फला-फूला है; लेकिन अभागीको अकाल है।' संतोंके लिए सर्वत्र समृद्धि है! परंतु हमारे लिए सर्वत्र अकाल है।

22. और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊं ? किसे पुकारती है वह ? गर्मियोंमें नदी-नाले सूख गये, परंतु वृक्षोंमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं। वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उन्हें यह वैभव प्रदान किया, कहां है वह वैभवदाता ? कैसी वह उत्कट मधुर कूक! हिंदू-धर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही है। स्त्रियां व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नहीं करेंगी।

कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुंदर कूक लगाती है, मानो उपनिषद ही गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोंमें पड़ती है, परंतु वह दिखायी नहीं देती। कवि वर्डस्वर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है। इंग्लैण्डका महान कवि कोयलको खोजता है, परंतु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियां कोयल न दिखायी दे, तो खाना भी नहीं खातीं। इस कोकिलाव्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोंने महान कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनंदकी मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुंदर परमात्मा ही प्रकट हुआ है।

23. कोयल सुंदर, तो वह कौआ क्या असुंदर है ? कौएका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज! वह आवाज क्या बुरी है ? नहीं, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता हुआ आता है, कैसा सुंदर लगता है। छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बंद घरमें खाना नहीं खाता। बाहर आंगनमें बैठकर उसे खिलाना पड़ता है और चिड़ियां, कौए दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौएके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है ? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौएके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा तुरंत एकरूप हो जाता है। माता चावल पर चाहे दही परोसे, दूध परोसे, या शक्कर परोसे, बच्चेको उसमें कोई आनंद नहीं। उसे आनंद है, कौएके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुंह बिचकानेमें। सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोंको इतना कौतूहल मालूम होता है, उसी पर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गयी है। ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखायी देता था। अपनी प्रिय पुस्तकोंकी सूचीमें मैं ईसप-नीतिका नाम पहले रखूंगा, भूलूंगा नहीं। ईसपके राज्यमें दो हाथोंवाला, दो पांवोंवाला मनुष्य ही अकेला नहीं है। उसमें सियार, कुत्ते, कौए, हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केंचुए— सभी बातचीत करते हैं, हंसते हैं। एक प्रचंड सम्मेलन ही समझिए न! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है।

रामायण भी इसी तत्त्वपर, इसी दृष्टि पर खड़ीकी गयी है। तुलसीदासजीने रामकी बाललीलाका वर्णन किया है। राम आंगनमें खेल रहे हैं। एक कौआ पास

आता है, राम उसे धीरेसे पकड़ना चाहते हैं। कौआ पीछे फुदक जाता है। अंतमें राम थक जाते हैं; परंतु उन्हें एक युक्ति सूझती है। मिठाईका एक टुकड़ा लेकर कौएके पास जाते हैं। राम टुकड़ा जरा आगे बढ़ाते हैं, कौआ कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमें तुलसीदासजीने कई चौपाइयां लिख डाली हैं; क्योंकि वह कौआ परमेश्वर है। रामकी मूर्तिका अंश ही उस कौएमें भी है। राम और कौएकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है।

54. दुर्जनमें भी परमेश्वरका दर्शन

24. सारांश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमें, विविध रूपोंमें— पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गंभीर सागरके रूपमें, वत्सल गोमाताके रूपमें, उम्दा घोड़ेके रूपमें, सहृदय सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुंदर मोरके रूपमें, स्वच्छ और एकांतप्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौएके रूपमें, छटपटानेवाली ज्वालाओंके रूपमें, प्रशांत तारोंके रूपमें, सर्वत्र परमात्मा भरा हुआ है। आंखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। संयुक्ताक्षर नहीं सीख लेंगे, तब तक पढ़नेमें प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर कदम-कदम पर आयेंगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमें आता है, परंतु रावण भी समझमें आना चाहिए। प्रह्लाद जंचता है, परंतु हिरण्यकशिपुभी जंचना चाहिए। वेदमें कहा है—

नमो नमः स्तेनानां पतये नमो नमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः
ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः।

— 'उन डाकुओंके सरदारोंको नमस्कार! उन क्रूरोंको, उन हिंसकोंको नमस्कार! ये ठग, ये दुष्ट, ये चोर, सब ब्रह्म ही हैं। इन सबको नमस्कार!'

इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोंको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमें नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहां शुद्ध परमात्मा नहीं है, मिश्रण है; परंतु इस परमात्माको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासजीने

रावणको रामका 'विरोधी भक्त' कहा है। हां, इस भक्तके रंग-ढंग कुछ भिन्न हैं। आग पर पांव पड़ने पर वह जलता है, सूज जाता है। परंतु सेक करनेसे सूजन उतर भी जाती है। तेज एक ही, पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखायी दिया, तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।

स्थूल और सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर और संयुक्ताक्षर सब सीखो और अंतमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरसे खाली एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर ब्रह्मांड तक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता करनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुंदर परमात्मा चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।

रविवार, 24-4-32

ग्यारहवां अध्याय

विश्वरूप-दर्शन

55. विश्वरूप-दर्शनकी अर्जुनकी उत्कंठा

1. भाइयो, पिछली बार हमने देखा कि इस विश्वकी अनंत वस्तुओंमें व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचानें और हमारी आंखोंको जो यह विराट् प्रदर्शनी दिखायी देती है, उसे आत्मसात् कैसे करें। पहले स्थूल फिर सूक्ष्म, पहले सरल फिर मिश्र— इस प्रकार सब चीजोंमें भगवानको देखें, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखें— यह हमने, पिछले अध्यायमें देखा।

अब, आज ग्यारहवां अध्याय देखना है। इस अध्यायमें भगवानने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुन पर अपनी परम कृपा प्रकटकी है। अर्जुनने भगवानसे कहा— "प्रभो, मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूं, जिसमें आपका सारा महान प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आंखोंसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह मांग विश्वरूप-दर्शनकी थी।

2. हम 'विश्व', 'जगत् ', इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। यह 'जगत्' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटे-से टुकड़ेका भी आकलन ठीकसे हमें नहीं होता। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखें, तो यह जगत् जो हमें इतना विशाल दिखायी देता है, अतिशय तुच्छ लगेगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डालें तो अनंत गोले दिखायी देते हैं। आकाशके आंगनकी वह रंगवल्ली, वे छोटे-छोटे सुंदर फूल, वे लुक-लुक करनेवाली लाखों तारिकाएं इन सबका स्वरूप क्या आप जानते हैं ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएं महान, प्रचंड हैं। उनके अंदर अनंत सूर्योंका समावेश हो जायेगा। वे रसमय, तेजोमय, ज्वलंत धातुओंके गोल पिंड हैं। ऐसे इन अनंत पिंडोंका हिसाब कौन लगायेगा ? न इनका अंत है, न पार। खाली आंखोंसे ये हजारों दीखते हैं। दूरबीनसे देखें, तो करोड़ों दिखायी देते हैं। उससे बड़ी दूरबीन हो, तो परार्धों दीखने लगेंगे और यह समझमें नहीं आयेगा कि आखिर इसका अंत कहां है, कैसा है ? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकड़ा 'जगत्' कहलाता है। परंतु यह जगत् भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है!

3. यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू है। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले काल पर दृष्टि दौड़ायें, तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस-बीस हजार साल तक पीछे जा सकेंगे। आगेका काल तो ध्यानमें ही नहीं आता। इतिहास-काल दस-बीस हजार वर्षोंका और स्वयं हमारा जीवन-काल तो मुश्किलसे सौ सालका है! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि और अनंत है। कितना काल बीता है, इसका कोई हिसाब नहीं। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नहीं होती। जैसे विश्वकी तुलनामें हमारा 'जगत्' सर्वथा तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस-बीस हजार साल अनंत कालकी तुलनामें कुछ भी नहीं हैं। भूतकाल अनादि है और भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमानकाल सचमुच कहां हैं, वह बताने जाते हैं, तब तक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमानकाल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूं, परंतु मुंहसे शब्द निकला कि वह भूतकालमें विलीन हुआ! ऐसी यह महान काल-नदी सतत बह रही है। न उसके उद्‌गमका पता है न अंतका।

बीचका थोड़ा-सा प्रवाहमात्र हमें दिखायी देता है।

4. इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचंड विस्तार और दूसरी ओर कालका प्रचंड प्रवाह— इन दोनों दृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखेंगे, तो समझमें आयेगा कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खींचने पर भी इसका कोई अंत नहीं लगनेवाला। तीनों काल और तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एवं ऊपर-नीचे, यहां-वहां, सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर, वह एक ही समय एकत्र दिखायी दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवां अध्याय निकला है।

5. अर्जुन भगवानको बहुत प्यारा था। कितना प्यारा था ? इतना कि दसवें अध्यायमें किन-किन स्वरूपोंमें मेरा चिंतन करो, यह बताते हुए भगवान कहते हैं— ''पांडवोंमें जो अर्जुन है, उसके रूपमें मेरा चिंतन करो।'' श्रीकृष्ण कहते हैं— **पाण्डवानां धनंजयः**। इससे अधिक प्रेमका पागलपन, प्रेमोन्मत्तता कहां होगी ? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुन पर भगवानकी अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवां अध्याय उस प्रीतिका प्रसादरूप है। दिव्यरूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवानने उसे दिव्यदृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होंने प्रेमका प्रसाद दिया।

56. छोटी मूर्तिमें भी पूर्ण दर्शन संभव

6. उस दिव्य रूपका सुंदर वर्णन, भव्य वर्णन, इस अध्यायमें है। इतना सब होते हुए भी कहना चाहिए कि विश्वरूपके लिए मुझे कोई खास लोभ नहीं। मैं छोटे-से रूप पर ही संतुष्ट हूं। जो छोटा-सा सुंदर मनोहर रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मैं सीख गया हूं। परमेश्वर टुकड़ोंमें विभाजित नहीं है। मुझे ऐसा नहीं लगता कि परमेश्वरका जो रूप हम देख पाते हैं, वह उसका एक टुकड़ा है और शेष परमेश्वर बाहर बचा हुआ है। बल्कि मैं देखता हूं कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमें व्याप्त है, वही संपूर्ण रूपमें जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमें, मिट्टीके एक कणमें भी व्याप्त है। उसमें कोई कमी नहीं। अमृतके सिंधुमें जो मिठास है, वही एक बिंदुमें भी होती है। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूंद मुझे मिल गयी है, उसीकी मिठास मैं चखूं।

अमृतका दृष्टांत मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूधका दृष्टांत नहीं लिया है। एक प्याले दूधमें जो मिठास होगी, वही मिठास लोटेभर दूधमें होगी; परंतु मिठास चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नहीं है। एक बूंद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमें पुष्टि अधिक है। परंतु अमृतके उदाहरणमें यह बात नहीं है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूंदमें है ही, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूंदभर अमृत भी गलेके नीचे उतर गया, तो उससे अमृतत्त्व ही मिलेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, पवित्रता, परमेश्वरके विराट् स्वरूपमें है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमें भी है। किसीने मुट्ठीभर गेहूं मुझे नमूनेके तौर पर लाकर दिये, तब भी यदि मुझे गेहूंकी पहचान न हुई, तो फिर बोरीभर गेहूं भी यदि मेरे सामने रख दिये जाये, तो वह कैसे होगी ? ईश्वरका जो छोटा नमूना मेरी आंखोंके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैंने नहीं पहचाना, तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मैं कैसे पहचानूंगा ? छोटे-बड़ेमें क्या है ? छोटे रूपको पहचान लिया, तो बड़ेकी पहचान हो ही गयी। अतः मुझे यह आकांक्षा नहीं होती कि ईश्वर अपना बड़ा रूप मुझे दिखाये। अर्जुनकी तरह विश्वरूप-दर्शनकी मांग करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है, वह विश्वरूपका कोई टुकड़ा है, ऐसी बात नहीं। किसी टूटी तस्वीरका कोई टुकड़ा ले आये, तो उससे सारे चित्रका खयाल हमें नहीं हो सकता। परंतु परमात्मा इस तरह टुकड़ोंसे बना हुआ नहीं है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खंड-खंड किया हुआ है। एक छोटे-से स्वरूपमें भी वह अनंत परमेश्वर सारा-का-सारा समाया हुआ है। छोटे फोटो और बड़े फोटोमें क्या अंतर है ? जो बातें बड़े फोटोमें होती हैं, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फोटोमें भी होती है। छोटा फोटो बड़े फोटोका टुकड़ा नहीं है। छोटे टाइपके अक्षर हों, तो भी वही अर्थ होगा और बड़े टाइपके अक्षर हो, तो भी वही होगा। बड़े टाइपमें बड़ा अर्थ और छोटेमें छोटा अर्थ होता हो, सो बात नहीं। मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है।

7. मूर्ति-पूजा पर अनेक लोगोंने हमला किया है। बाहरके और यहांके भी कई विचारकों ने मूर्ति-पूजाको दोष दिया है। किंतु मैं ज्यों-ज्यों विचार करता हूँ त्यों-त्यों मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट होती जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ

क्या है ? एक छोटी-सी चीजमें सारे विश्वका अनुभव करने को सीखना मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गांवमें भी ब्रह्मांड देखनेको सीखना क्या गलत है ? यह कल्पनाकी बात नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट् स्वरूपमें जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमें है, वही एक मृत्-कणमें है। उस मिट्टीके ढेलेमें आम, केले, गेहूं, सोना, तांबा, चांदी, सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके भीतर भरी है। जिस तरह किसी छोटी नाटक मंडलीमें वे ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंगमंच पर आते हैं, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमें काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनंत नाटक लिखता है और स्वयं अनंत पात्रोंके रूपमें सजकर रंगभूमि पर अभिनय करता है। इस अनंत नाटकका एक पात्र पहचान लेने पर सारे पात्र पहचान लिये. ऐसा हो जायेगा।

8. काव्यका उपमा, दृष्टात आदिक लिए जो आधार ह, वहा मूर्ति-पूजाके लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते हैं, तो हमें आनंद होता है; क्योंकि उसमें एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग-सुंदर है। उसमें व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु यानी व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति। परंतु जंगलमें उगा टेढ़ा-तिरछा पेड़ भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमें ईश्वरकी स्वच्छंदता है। उस पेड़को कोई बंधन नहीं है। ईश्वरको कौन बंधनमें डाल सकता है ? वह बंधनातीत परमेश्वर उस टेढ़े-मेढ़े पेड़में है। कोई सीधा सरल खंभा देखते हैं, तो उसमें ईश्वर की समता दिखायी देती है। नक्काशीदार खंभा देखते हैं, तो आकाशमें नक्षत्रोंके बेल-बूटे काढ़नेवाला परमेश्वर उसमें दिखायी देता है। किसी कटे-छंटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयमी रूप दिखायी देता है, तो किसी विशाल वनमें ईश्वरकी भव्यता और स्वतंत्रताके दर्शन होते हैं। जंगलमें भी आनंद मिलता है और व्यवस्थित बगीचेमें भी। तो फिर क्या हम पागल हैं ? नहीं, आनंद दोनोंमें ही होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमें प्रकट हुआ है। गोल-चिकने शाल-ग्रामकी बटियामें जो ईश्वरी तेज है, वही नर्मदाके ऊबड़-खाबड़ पत्थरके गण-पतिमें है। अतः मुझे वह विराट् स्वरूप अलगसे देखनेको न मिला, तो चिंता नहीं।

9. परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा प्रकट

हुआ है, इसीलिए हमें आनंद होता है, और उस वस्तुके प्रति आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनंद होता है, वह अकारण नहीं। आनंद क्यों होता है ? उससे हमारा कुछ-न-कुछ संबंध रहता है, इसीसे आनंद होता है। बच्चेको देखते ही मांको आनंद होता है; क्योंकि वह संबंध पहचानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोड़ो। मुझमें जो परमेश्वर है, वही उस वस्तुमें है। इस प्रकारका संबंध बढ़ाना ही आनंद बढ़ाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेमका संबंध सब जगह जोड़ने लगिए, फिर देखिए, क्या चमत्कार होता है! फिर अनंत सृष्टिमें व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखायी देगा। एक बार यह दृष्टि आ जाये, तो फिर क्या चाहिए ? परंतु इसके लिए इंद्रियोंको आदत डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी, तब फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर दिखायी देगा। उपनिषदोंमें आत्माका रंग कैसा है इसका बड़ा सुंदर वर्णन है। आत्माका रंग कौन-सा बताया जाये ? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं— **यथा अयं इंद्रगोपः**। यह जो लाल-लाल रेशम-सा मुलायम इंद्रगोप है, मृगका कीड़ा है— बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस इंद्रगोपको देखते हैं, तो कितना आनंद होता है! यह आनंद क्यों होता है ? मुझमें जो भाव है, वही उस इंद्रगोपमें है। मुझसे उसका कोई संबंध न होता, तो आनंद होता ? मेरे अंदर जो सुंदर आत्मा है, वही इंद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यों देते हैं ? उससे आनंद क्यों होता है ? हम उपमा इसलिए देते हैं कि उन दो वस्तुओंमें साम्य होता है और इसीसे आनंद होता है। यदि उपमेय और उपमान सर्वथा भिन्न हों, तो आनंद नहीं आयेगा। यदि कोई कहे कि 'नमक मिर्चकी तरह है', तो हम उसे पागल कहेंगे। पर यदि कोई यह कहे कि 'तारे फूलोंकी तरह हैं', तो उनमें साम्य दिखायी देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्चकी तरह है, ऐसा कहनेसे सादृश्यका अनुभव नहीं होता। परंतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गयी हो, उसे ऐसा दर्शन हुआ हो कि जो परमात्मा नमकमें है, वही मिर्चमें है, वह 'नमक कैसा ?' तो 'मिर्चकी तरह है', इस कथनमें भी आनंद अनुभव करेगा। सारांश यह है कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें ओतप्रोत है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नहीं।

57. विराट् विश्वरूप पचेगा भी नहीं

10. अलावा वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे, सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्वरूप देखनेमें कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गयी। वह थर-थर कांपते हुए अंतमें कहता है, "भगवन्! अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा मत करो। यही अच्छा है कि ईश्वर, जो तीनों कालों और तीनों स्थलोंमें व्याप्त है, वैसा ही रहे। वह सिमटकर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आ खड़ा हो, तो मेरी क्या दशा होगी! ये तारे कितने शांत दिखायी देते हैं! ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे बात कर रहे हों। परंतु दृष्टिको शांत करने वाली वही तारिका यदि निकट आ जाये तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मैं उसमें भस्म ही होकर रहूँगा। ईश्वरके ये अनंत ब्रह्मांड जहां हैं, वहां वैसेही रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या आनंद है ? बंबईके उस कबूतरखानेमें हजारों कबूतर रहते हैं, वहां क्या मुक्तता है ? वह दृश्य बड़ा अटपटा मालूम होता है। यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहां तीनों स्थलोंमें विभाजित है इसीमें मजा है।

11. जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कालात्मक सृष्टि पर भी लागू होती है। हमें भूतकालकी स्मृति नहीं रहती और भविष्यका ज्ञान नहीं होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफमें पांच ऐसी वस्तुएं बतायी गयी हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्य प्राणीकी सत्ता बिलकुल नहीं है। उनमें एक है-भविष्यकालका ज्ञान। हम अंदाज जरूर लगाते हैं, परंतु अंदाजका अर्थ ज्ञान नहीं है। भविष्यका ज्ञान हमें नहीं होता, यह हमारे कल्याणकी ही बात है। वैसे ही भूतकालकी स्मृति हमें नहीं रहती, यह भी सचमुच बड़ी अच्छी बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आये, तो भी उसके भूतकालकी स्मृतिके कारण मेरे मनमें उसके प्रति आदर नहीं होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोंको मैं सहसा भूल नहीं सकता। संसार उसके पापोंको उसी अवस्था में भूल सकेगा, जबकि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

पूर्व-स्मरणसे विकार बढ़ते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो जाये, तो फिर सब समाप्त! पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह युक्ति है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएं असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोंके कूड़ा-करकटकी खोज क्यों करें ? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूड़ा-करकट है ? अपना बचपन भी हम बहुत कुछ भूल जाते हैं। यह भूलना अच्छा ही है। हिंदू-मुस्लिम-ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरंगजेबने जुल्म किया था, इसको कितने दिनों तक रटते रहोगे ? गुजरातीमें रतन बाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत बार यहां सुनते हैं। उसके अंतमें कहा है— ''संसारमें सबकी कीर्ति ही शेष रहेगी। पापको लोग भूल जायेंगे।'' यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमें जितना अच्छा हो, उतना ले लेना चाहिए। पाप फेंक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोड़कर सिर्फ अच्छाईको ही याद रखे, तो कैसी बहार हो! परंतु ऐसा नहीं होता। इसलिए विस्मृतिकी बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए भगवानने मृत्युका निर्माण किया है।

12. सारांश यह कि यह जगत् जैसा है, वैसा ही मंगल है। इस कालस्थलात्मक जगत्को एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नहीं है। अति परिचयमें मजा नहीं है। कुछ चीजोंसे घनिष्ठता बढ़ानी होती है, तो कुछ चीजोंसे दूर रहना होता है। गुरु होगा, तो नम्रतापूर्वक दूर बैठेंगे। परंतु मांकी गोदमें जाकर बैठेंगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करनेकी जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम निकट लें, परंतु आगसे बचकर रहें। तारे दूरसे ही सुंदर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लानेसे हमें अधिक आनंद होगा, सो बात नहीं। जो चीज जहां है, उसे वहीं रहने देनेमें मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, वह निकट लानेसे सुखदायी ही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। उसे वहीं दूर रखकर ही उसका रस चखना चाहिए। ढीठ बनकर, बहुत घनिष्ठता बढ़ाकर, अति परिचय कर लेनेमें कुछ सार नहीं।

13. सारांश यह कि तीनों काल हमारे सामने खड़े नहीं है, सो अच्छा ही है। तीनों कालोंका ज्ञान होनेसे आनंद अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हठ पकड़ लिया, प्रार्थना की, तो भगवानने उसे स्वीकार

कर लिया। उन्होंने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया; परंतु मुझे तो भगवानका छोटा-सा रूप ही पर्याप्त है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकड़ा तो है नहीं, और यदि टुकड़ा भी हो, तो उस अपार और विशाल मूर्तिका एक चरण या चरणकी एक अंगुली ही मुझे दीख गयी, तो भी मैं कहूंगा— "धन्य है मेरा भाग्य!" अनुभवसे मैंने यह सीखा है।

जमनालालजीने जब वर्धामें लक्ष्मीनारायणका मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया, तो उस समय मैं दर्शनके लिए गया था। पंद्रह-बीस मिनट तक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गयी। भगवानका वह मुख, वह छाती, वे हाथ देखते-देखते पांवों तक पहुंचा और अंतमें चरणों पर जाकर दृष्टि स्थिर हो गयी। **गोड तुझी चरण-सेवा**— 'मधुर तेरी चरणरसेवा'— यही भावना अंतमें रह गयी।

यदि छोटे-से रूपमें यह महान प्रभु न समाता हो, तो फिर उस महापुरुषके चरण ही दीख जाना पर्याप्त है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की, उसका अधिकार बड़ा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था! मेरी क्या पात्रता है ? मुझे तो चरण ही बस हैं, मेरा अधिकार उतना ही है।

58. सर्वार्थ-सार

14. उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है, उसमें बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नहीं। उसमें बुद्धि चलाना पाप है। विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोंको हम पढ़ें और पवित्र बनें। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकड़े किये जायें, यह मुझे नहीं भाता। वह अघोर उपासना हो जायेगी। अघोरपंथी लोग श्मशानमें जाकर मुर्दे चीरते हैं और तंत्रोपासना करते हैं। वैसी ही वह क्रिया हो जायेगी। परमेश्वरका वह दिव्यरूप— **विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।** ऐसा वह विशाल और अनंतरूप! उसके वर्णनके श्लोकोंको गायें और गाकर अपना मन निष्पाप और पवित्र बनायें।

15. परमेश्वरके इस सारे वर्णनमें केवल एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते हैं— "अर्जुन, ये सब-के-सब मरने वाले हैं, तू निमित्तमात्र हो जा। सबकुछ करनेवाला तो मैं हूं।" यही ध्वनि मनमें गूंजती

रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमें ईश्वरके हाथोंका एक हथियार बनना है, तों बुद्धि सोचने लगती है कि ईश्वरके हाथका औजार बनें कैसे ? कृष्णके हाथकी मुरली कैसे बनूं ? वे अपने होंठसे मुझे लगालें और मुझसे मधुर स्वर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह कैसे होगा ? मुरली बनना यानी पोला बनना ! पर मुझमें तो विकार और वासनाएं ठसाठस भरी हुई हैं, ऐसी दशामें मुझमें से मधुर स्वर कैसे निकलेगा ? मेरा स्वर तो दबा हुआ निकलता है। मैं घन वस्तु हूँ। मुझमें अहंकार भरा हुआ है। मुझे निरहंकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊंगा, तभी परमेश्वर मुझे बजायेगा; परंतु परमेश्वरके होंठोंकी मुरली बनना बड़े साहसका काम है। यदि उसके पैरोंकी जूतियां बनना चाहूं, तो भी आसान नहीं है। परमेश्वरकी जूती ऐसी मुलायम होनी चाहिए कि परमेश्वरके पांवमें जरा-सा भी घाव न लगे। परमेश्वरके चरण और कांटे-कंकड़के बीच मुझे पड़ना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा, मुलायम बनाना होगा। अतः परमेश्वरके पांवोंकी जूती बनना भी सरल नहीं है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो, तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नहीं बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सान पर अपनेको चढ़ाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमें मेरी जीवनरूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह ध्वनि मेरी बुद्धिमें गूंजती रहती है। भगवानके हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमें निमग्न हो जाता हूं।

16. अब यह कैसे किया जाये, इसकी विधि स्वयं भगवानने अंतिम श्लोकमें बता दी हैं। श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको 'सर्वार्थ-सार', सारी गीताका सार कहा है। वह कौन-सा-श्लोक है ? वह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥

'हे पांडव, जो सबकर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमें द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है।' जिसका संसारमें किसीसे वैर नहीं, जो तटस्थ रहकर संसारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो-जो करता है, सब मुझे अर्पितकर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है, क्षमावान, निःसंग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका

हथियार बनता है, ऐसा यह सार है।

रविवार, 1-5-32

बारहवां अध्याय

सगुण-निर्गुण-भक्ति

59. अध्याय 6 से 11 : एकाग्रतासे समग्रता

1. गंगाका प्रवाह यों तो सभी जगह पावन और पवित्र है; परंतु हरिद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र हैं। उन्होंने सारे संसारको पवित्र बना दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता आदिसे अंत तक सभी जगह पवित्र है। परंतु बीचमें कुछ अध्याय ऐसे हैं, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्यायके संबंधमें हमें कहना है, वह बड़ा पावन तीर्थ बन गया है। स्वयं भगवान ही उसे 'अमृतधारा' कहते हैं— **ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।** है तो यह छोटा-सा बीस श्लोकोंका ही अध्याय, परंतु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, संजीवन-दायी है। इस अध्यायमें भगवानने श्रीमुखसे भक्तिरसकी महिमाका तत्त्व गाया है।

2. वास्तवमें छठे अध्यायसे भक्ति-तत्त्व प्रारंभ हो गया है। पांचवें अध्यायके अंत तक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरणरूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधनारूप विकर्म, इन दोनोंकी साधनासे संपूर्ण कर्मोंको भस्म करने वाली अंतिम अकर्मकी भूमिका, इतनी बातोंका विचार पहले पांच अध्यायों तक हुआ। इतनेमें जीवनशास्त्र समाप्त हो गया। फिर छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायके अंत तक एक तरहसे भक्ति-तत्त्वका ही विचार चला। एकाग्रतासे आरंभ हुआ। छठे अध्यायमें यह बताया गया है कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन हैं और उसकी क्यों आवश्यकता है ? ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बतायी गयी है। अब देखना यह है कि एकाग्रतासे लेकर समग्रता तककी लंबी मंजिल हमने कैसे तय की ?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरुआत हुई। एकाग्रता होने पर किसी भी विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका उपयोग— मेरा प्रिय विषय लें तो गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा। परंतु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नहीं है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नहीं होती। गणितमें अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्रांतमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परंतु यह सच्ची परीक्षा नहीं है। इसलिए सातवें अध्यायमें यह बतलाया कि हमारी दृष्टि भगवानके चरणोंकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमें कहा गया कि भगवानके चरणोंमें एकाग्रता सतत बनी रहे। हमारी वाणी, कान, आंख सतत उसीमें लगी रहें, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी सभी इंद्रियोंको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। **पडिलें वळण इंद्रियां सकळां। भावतो निराळा नाही दुजा**— 'सब इंद्रियोंको आदत पड़ गयी, अब दूसरी भावना नहीं रही।' ऐसा हो जाना चाहिए। सब इंद्रियोंको भगवानकी धुन लग जानी चाहिए। हमारे समीप चाहे कोई विलाप कर रहा हो या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सज्जनोंका, संतोंका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अंधकार हो, मरणकालमें परमेश्वर ही चित्तके सामने खड़ा रहेगा। इस तरहका अभ्यास जीवनभर सब इंद्रियोंसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवें अध्यायमें दी गयी है। छठे अध्यायमें एकाग्रता, सातवेंमें ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति', आठवेंमें सातत्ययोग और नवेंमें समर्पणता सिखायी है। दसवेंमें क्रमिकता बतायी है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदयंगम किया जाये, चींटीसे लेकर ब्रह्मदेव तकमें व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाये, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बतायी गयी। विश्वरूप-दर्शनको ही मैं 'समग्रता-योग' कहता हूं। विश्वरूप-दर्शन यानी यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवें तक भक्ति-रसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छानबीन की गयी है।

60. सगुण उपासक और निर्गुण उपासक : मांके दो पुत्र

3. अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने समाप्ति-

संबंधी प्रश्न पूछा। पांचवें अध्यायमें जीवन-संबंधी पूरे शास्त्रका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भी पूछा है। अर्जुन पूछता है— "भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं। तो अब बताओ कि इन दोनोंमें कौन-सा भक्त आपको प्रिय है ?"

4. भगवान इसका क्या उत्तर दें ? किसी मांके दो बच्चे हों और उससे उनके बारेमें प्रश्न किया जाये, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह मांको बहुत प्यार करता हो, मांको देखते ही आनंदित होता हो और मांके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो, वह मांसे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। मां न हो, तो उसे सारा संसार सूना! ऐसा यह छोटा है। दूसरा बच्चा बड़ा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। मांसे दूर रह सकता है। साल-छह मास भी मांके दर्शन न हो, तो भी वह रह सकता है। वह मांकी सेवा करनेवाला है। सारा बोझ अपने सिर पर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे मांका विछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर मांको बड़ा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। ऐसे दो बेटोंके बारेमें मांसे कहिए— "मां! इन दो बेटोंमें से एक ही बेटा आपको दिया जायेगा। आप जिसे चाहे पसंद करें!" तो वह क्या उत्तर देगी ? किस बेटेको पसंद करेगी ? क्या वह दोनों बेटोंको तराजूमें रखकर तौलने बैठेगी ? माताकी भूमिका पर ध्यान दीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा ? वह निरुपाय होकर कहेगी— "यदि बिछोह ही होना है, तो बड़े बेटेका वियोग मैं सह लूंगी।" छोटे बेटेको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नहीं कर सकती। छोटे बेटेके विशेष आकर्षणको देखकर "बड़ा बेटा दूर जाये तो भी चलेगा" ऐसा कुछ तो भी जवाब वह देगी। परंतु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह उत्तर नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ उत्तर देना है, इसलिए दो-चार शब्द वह बोल देगी; परंतु उन शब्दोंको तोड़-मरोड़ करके अर्थ निकालने लगेंगे, तो वह ठीक नहीं होगा।

5. इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस मांकी विचित्र दशा होगी, ठीक वैसी ही स्थिति भगवानके मनकी हो गयी है। अर्जुन कहता है— "भगवन्, दो तरहके

आपके भक्त हैं। एक आपके प्रति अत्यंत प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आंखें आपकी प्यासी हैं, कान आपका गान सुननेको उत्सुक हैं, हाथ-पांव आपकी सेवा, पूजाके लिए उत्कंठित हैं। दूसरा है स्वावलंबी, इंद्रियोंको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूतहितमें रत, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामें ऐसा मग्न कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनोंमें आपका प्रिय भक्त कौन-सा है ?'' अर्जुनका भगवानसे यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस मांने जवाब दिया, ठीक उसी तरह भगवानने उत्तर दिया है— ''वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा भी मेरा ही है।'' इस तरह भगवान असमंजसमें पड़ गये हैं। कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

6. और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरश: दोनों भक्त एकरूप हैं। दोनोंकी योग्यता एक-सी है। उनकी तुलना करना मर्यादाका अतिक्रमण करना है। पांचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भक्तिके संबंधमें पूछा है। पांचवें अध्यायमें कर्म और विकर्मकी सहायतासे मनुष्य अकर्म-दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोंमें प्रकट होती है। एक व्यक्ति रात-दिन कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म नहीं करता, और दूसरा चौबीस घंटोंमें एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनिया भरके व्यवहार करता है। इन दोनों रूपोंमें अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसेकी जाये ? किसी वर्तुलकी एक बाजूसे दूसरी बाजूकी तुलना कीजिए। एक ही वर्तुलकी दो बाजू! उनकी तुलना कैसे करें ? दोनों बाजू समान योग्यता रखती हैं, एकरूप हैं। अकर्म-भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवानने एकको 'संन्यास' और दूसरेको 'योग' कहा है। शब्द भलेही दो हों, पर अर्थ एक ही है। संन्यास और योग दोनोंमें, निर्णय अंतमें सरलताके आधार पर ही कियां गया है।

7. सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त इंद्रियोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा निर्गुण भक्त मनसे विश्वकल्याणकी चिंता करता है। पहला बाह्य सेवामें मग्न दिखायी देता है। परंतु भीतरसे उसका चिंतन सतत जारी है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखायी देता, परंतु भीतरसे

उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकारके दो भक्तोंमें श्रेष्ठ कौन है ? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला वह सगुण भक्त है। तो दूसरा निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चिंतन, सबकी चिंता करता है। ये दोनों भक्त भीतरसे एकरूप ही हैं। शायद बाहरसे भिन्न दिखायी देते हों, परंतु दोनों हैं एक-से ही, दोनों भगवानके प्यारे हैं। फिर भी इनमें सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। इस तरह भगवानने जो उत्तर पांचवें अध्यायमें दिया, वही यहां भी दिया है।

61. सगुण सुलभ और सुरक्षित

8. सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे काम लिया जा सकता है। इंद्रियां साधन हैं, विघ्नरूप हैं, या दोनों हैं। वे मारक हैं या तारक—यह देखने वालेकी दृष्टि पर अवलंबित है। मान लो कि किसीकी मां मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई है और वह उससे मिलना चाहता है। दोनोंके बीच पंद्रह मीलका रास्ता है। उसपर मोटर नहीं जा सकती। टूटी-फूटी पगडंडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा— "कहांका यह मनहूस रास्ता बीचमें आ गया, यह दूरी न होती तो मैं कबका मांसे जाकर मिल लेता!" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है। परंतु मांको देखनेके लिए उसे हर हालतमें जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वहीं नीचे बैठ जायेगा, तो दुश्मन जान पड़नेवाले उस रास्तेकी विजय हो जायेगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहेगा— "यह जंगल है, फिर भी इसमेंसे होकर जानेका रास्ता तो बना हुआ है, यही गनीमत है। किसी तरह मां तक जा पहुंचूंगा। यह न होता, तो इस दुर्गम पहाड़ परसे कैसे आगे जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजीसे आगे कदम बढ़ाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेहभाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिए या शत्रु, अंतर बढ़ानेवाला कहिए या अंतर कम करनेवाला, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यके चित्तकी भूमिका पर, उसकी दृष्टि पर अवलंबित है। यही बात इंद्रियोंकी है। वे विघ्नरूप हैं या साधनरूप हैं, यह आपकी अपनी

दृष्टि पर निर्भर करता है।

9. सगुण उपासकके लिए इंद्रियां साधन हैं। इंद्रियां मानो पुष्प हैं; उन्हें परमात्माको अर्पित करना है। आंखोंसे हरिका रूप देखें, कानोंसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पांवोंसे तीर्थयात्रा करें और हाथोंसे सेवा-कार्य करें— इस तरह समस्त इंद्रियोंको वह परमेश्वरको अर्पण कर देता है। इंद्रियां भोगके लिए नहीं रह जातीं। पुष्प तो भगवान पर चढ़ानेके लिए होते हैं। फूलोंकी माला स्वयं अपने गलेमें डालनेके लिए नहीं होती। इसी तरह इंद्रियोंका उपयोग ईश्वरकी सेवाके लिए करना है। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि; परंतु निर्गुणोपासकको इंद्रियां विघ्नरूप मालूम होती हैं। वह उन्हें संयममें रखता है, बंद करके रखता है। उनका आहार बंद कर देता है। उनपर पहरा बैठा देता है। सगुणोपासकको यह सबकुछ नहीं करना पड़ता। वह सब इंद्रियोंको हरिचरणोंमें चढ़ा देता है। ये दोनों विधियां इंद्रिय-निग्रहकी ही हैं— इंद्रियदमनके ही ये दोनों प्रकार हैं। आप किसी भी विधिको लेकर चलिए, परंतु इंद्रियोंको अपने काबूमें रखिए। ध्येय दोनोंका एक ही है, इंद्रियों को विषयोंमें भटकने न देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी कठिन है।

10. निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नहीं है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमें सरल है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है, वह चिंतनके सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकेगा। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। जहां हमारा जन्म हुआ, उस छोटे-से देहातकी सेवा करना अथवा मां-बापकी सेवा करना, सगुण-पूजा है। इसमें केवल इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह सेवा जगत्के हितकी विरोधी न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यों न हो, वह यदि दूसरोंके हितमें बाधा न डालती हो, तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुंच जायेगी, नहीं तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। मां-बाप हों, मित्र हों, दुःखी बंधु-बांधव हों, साधु-संत हों, उन्हें ही परमेश्वर समझकर सेवा करनी चाहिए। इन सबमें परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके संतोष मानो। यह सगुण-पूजा सुलभ है; परंतु

निर्गुण-पूजा कठिन है। यों दोनोंका अर्थ एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस!

11. सुलभताके अलावा एक और भी मुद्दा है। निर्गुण-उपासनामें भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें कुछ खतरा है। एक समय ऐसा था, जब ज्ञान पर मैं अधिक निर्भर था; परंतु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नहीं चलता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है; परंतु सूक्ष्म मैलको मिटानेका सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलंबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य— इन सभी साधनोंको लें तो भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नहीं मिट सकते। भक्तिरूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नहीं धुल सकते। भक्तिरूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलंबन कह दीजिए। परंतु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके 'वह श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए और उसका अवलंबन— ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। परमात्माका आधार लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नहीं होते।

12. कोई यह कहेंगे कि "यहां 'ज्ञान' शब्दका अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नहीं धुल सकते, तो ज्ञानका दर्जा हलका हो जाता है।" मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हूं। परंतु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इसमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, उसमें कुछ कमी रह ही जायेगी। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो जाये, तो उससे सारे मैल भस्म हो जायेंगे, इसमें मुझे तिलमात्र शंका नहीं है। चित्तसहित सारे मैलोंको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य ज्ञानमें है। परंतु इस विकारवान देहमें ज्ञानका बल कम पड़ता है, इसलिए उसके द्वारा सूक्ष्म मैलोंका मिटना संभव नहीं है। अतः भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मैल मिटते नहीं। इसीलिए भक्तिमें मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी ओरसे समझिए। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेश्वरावलंबन है, निर्गुणमें स्वावलंबन। इसमें 'स्व' का भी क्या अर्थ है ? "अपने अंतःस्थ परमात्माका आधार"— यही उस स्वावलंबनका

अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता, जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलंबनसे अर्थात् अंतस्थ आत्मज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। सारांश, निर्गुण भक्तिके स्वावलंबनमें भी आत्माका ही आधार है।

62. निर्गुणके अभावमें सगुण भी सदोष

13. जैसे सगुण-उपासनाके पक्षमें मैंने सुलभता और सुरक्षिततारूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी डाल सकता हूं। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। उदाहरणार्थ, हम भिन्न-भिन्न कामोंके लिए, सेवाके लिए संस्था स्थापित करते हैं। संस्थाएं शुरूमें व्यक्तिको लेकर बनती हैं। वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। संस्था पहले व्यक्तिनिष्ठ रहती है। परंतु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाये, वैसे-वैसे वह व्यक्तिनिष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई, तो स्फूर्तिदाताका लोप होते ही संस्थामें अंधेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूं। चरखेकी माल टूटते ही सूत कातना तो दूर, कता हुआ सूत लपेटना भी संभव नहीं होता। व्यक्तिका आधार टूटते ही वैसी ही दशा उस संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्त्व-निष्ठा पैदा हो जाये, तो फिर ऐसा नहीं होगा।

14. सगुणको निर्गुणकी सहायता चाहिए। कभी तो व्यक्तिसे, आकारसे, निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयसे, शंकरके जटाजूटसे निकली, परंतु वहीं थम नहीं गयी। जटाजूट छोड़कर वह हिमालयकी गिरि-कंदराओं, घाटियों, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल बहती हुई जब आयी, तभी वह विश्वजनोंके काम आ सकी। इसी प्रकार व्यक्तिका आधार टूट जाने पर भी तत्त्वके मजबूत खंभों पर खड़ी रहनेके लिए संस्थाको तैयार रहना चाहिए। कमान बनाते हैं, तो पहले उसे आधार देते हैं, परंतु बादमें आधार निकाल लेना होता है। आधारके निकाल डालने पर जब मेहराब टिकी रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। यह तो ठीक है कि पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुणसे चला, परंतु अंतमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका जन्म होना चाहिए। भक्तिरूपी लतामें ज्ञानके पुष्प खिलने चाहिए।

15. बुद्धदेवके ध्यानमें यह बात आ गयी थी। इसीलिए उन्होंने तीन प्रकारकी निष्ठाएं बतायी हैं। पहले व्यक्तिनिष्ठा हो। उसमेंसे तत्त्वनिष्ठा। और यदि एकाएक तत्त्वनिष्ठा न हो, तो कम-से-कम संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पंद्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमें अनबन होगी, झगड़े होंगे। व्यक्ति-शरणता मिटकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बौद्ध-धर्ममें तीन प्रकारकी शरणागति बतायी गयी है— **बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।** पहले व्यक्तिके प्रति प्रीति हो, फिर संघके प्रति; परंतु ये दोनों निष्ठाएं अस्थिर ही हैं। अंतमें सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए, तभी संस्था लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ, तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावसे सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको समतोल रखती है, इसके लिए सगुण, निर्गुणका आभारी है।

16. हिंदू, ईसाई, इसलाम आदि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह नीचे दर्जेकी मानी गयी हो, तो भी मान्य है और महान है। मूर्ति-पूजा जब तक निर्गुणकी सीमामें रहती है, तभी तक वह निर्दोष रहती है। परंतु इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादाके अभावमें सारे धर्मोंके सगुणरूप अवनतिको प्राप्त हो गये हैं। पहले यज्ञयागमें पशुहत्या होती थी। आज भी शक्ति-देवीको बलि चढ़ाते हैं। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोड़कर मूर्ति-पूजा गलत दिशामें चली गयी। यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहती, तो फिर यह अंदेशा नहीं रहता।

63. दोनों परस्पर पूरक : राम-चरित्रके दृष्टांत

17. सगुण सुलभ और सुरक्षित है। परंतु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणके विकासके लिए उसमें निर्गुणरूपी, तत्त्वनिष्ठारूपी बौर आना चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर पूरक हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं। सगुणसे निर्गुण तक मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मैल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनों एक-दूसरेके कारण सुशोभित हैं।

18. यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमें बड़े उत्तम ढंगसे दिखायी गयी है। अयोध्याकांडमें भक्तिके दोनों प्रकार आये हैं। इन्हीं दो भक्तियोंका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी है और लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण-भक्ति और सगुण-भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायेगा।

19. राम जब वनवासके लिए निकले तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नहीं थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— "लक्ष्मण, मैं वनमें जा रहा हूं। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घर पर रहो। मेरे साथ चलकर दुःखी माता-पिताको और अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी और प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे, तो मैं निश्चिंत रहूंगा। तुम मेरे प्रतिनिधिके तौर पर रहो। मैं वनमें जा रहा हूँ। इसका अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हूं। बल्कि ऋषियोंके आश्रममें जा रहा हूं।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे; परंतु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें एक ही झटकेमें उड़ा दीं। एक घाव दो टुकड़े! तुलसीदासजीने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं— "आपने मुझे उत्कृष्ट निगम नीति बतायी है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परंतु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हूं।

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम-धुर-धारी। निगम-नीति कहुं ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदरु-मेरु कि लेहिं मराला॥

हंस क्या मेरु मंदरका भार उठा सकता है ? भैया राम, मैं तो आज तक आपके प्रेमसे पला-पुसा हूं। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइए। मैं तो एक बालक हूं।" यह कहकर लक्ष्मणने सारी बात खत्मकर डाली।

20. मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वही हाल लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेकी शक्ति उसमें नहीं थी। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जायें, तब भी स्वयं जागता रहे, उनकी सेवा करे। इसीमें उसे आनंद मालूम होता था। हमारी आंख पर कोई कंकड़ मारे, तो जैसे हाथ फौरन उठकर

आंख पर आ जाता है और कंकड़की मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। राम पर यदि प्रहार हो, तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासजीनें लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टांत दिया है। झंडा ऊंचा लहराता रहता है। मान-वंदना सब झंडेकी ही करते हैं। उसके रंग, आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परंतु उस सीधे खड़े डंडेको कौन पूछता है ? रामके यशकी जो पताका फहर रही है, उसको डंडेकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खड़ा रहा। झंडेका डंडा कभी झुक नहीं सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मणरूपी डंडा कभी झुका नहीं। यश किसका ? तो रामका! संसारको पताका दीखती है, डंडेकी याद नहीं रहती। मंदिरका कलश दीखता है, नींव नहीं। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परंतु लक्ष्मणका कहीं पता नहीं। चौदह साल तक यह डंडा सीधा ही तना रहा, जरा भी नहीं झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बड़े-बड़े दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको वनमें छोड़नेका काम अंतमें लक्ष्मणको ही सौंपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुंचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह गया था। वह रामकी आंखें, रामके हाथ-पांव, रामका मन बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गयी थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

21. भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासजी ने सुंदर खींचा है। राम वनको गये, तब भरत अयोध्यामें नहीं था। जब भरत आया, तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वसिष्ठ उसे समझा रहे थे कि "तुम राज चलाओ।" भरतने कहा— "मुझे रामसे भेंट करनी चाहिए।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था; परंतु साथ ही राज्यका प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, इसका प्रबंध करना— यह रामका ही काम करने जैसा है। सारी संपत्ति उस मालिककी है, उसकी व्यवस्था करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है, रामका काम करना, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी ? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने

वनमें आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप...." इतना ज्यों ही वह कहता है, त्यों ही राम उससे कहते हैं, "भरत, तुम्ही राज-काज चलाओ।" भरत संकोचसे खड़ा रहता है। वह कहता है, "आपकी आज्ञा सिर-आंखोंपर।" राम जो कहें, सो मंजूर। उसने अपना सबकुछ राम पर निछावर कर रखा था।

22. भरत गया और राज-काज चलाने लगा; परंतु देखो कैसा अजीब दृश्य है कि अयोध्यासे दो मीलकी दूरी पर वह तपस्या करता रहा। तपस्वी रहकर उसने राज-काज चलाया। अंतमें राम जब भरतसे मिले, तब यह पहचानना मुश्किल हो गया कि वनमें रहकर तप करनेवाला असली तपस्वी कौन है ? दोनोंके एकसे चेहरे, उम्रमें थोड़ा-सा फर्क, मुखमुद्रा पर वही तपस्याके चिह्न, दोनोंको देखकर पहचाना नहीं जाता कि इनमें राम कौन और भरत कौन! इस तरहका चित्र यदि कोई निकाले, तो वह कितना पावन चित्र होगा! इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षणभरके लिए भी दूर नहीं था। एक ओर वह राजकाज चला रहा था, तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहां वियोगकी भाषा मुंहसे निकले ही कैसे ? इसलिए भरतको रामका वियोग नहीं लगता था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

23. आजकलके युवक कहते हैं— "रामका नाम, रामकी भक्ति, रामकी उपासना— ये सब बातें हमारी समझमें नहीं आतीं। हम तो भगवानका काम करेंगे।" भगवानका काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवानका काम करके भरतने वियोगको पचा डाला है। भगवानका काम करते हुए भगवानके वियोगका भान होनेके लिए समय न रहना एक बात है और जिसका भगवानसे कुछ लेना-देना नहीं, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवानका कार्य करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना बड़ी दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुणरूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहां सगुणका आधार टूट नहीं गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेंगे उसमें मुझे संदेह नहीं होगा"— ऐसा कहकर भरत लौटने लगा तो भी उसने फिर पीछे मुड़कर रामकी ओर देखा और कहा— "प्रभो, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-

न-कुछ भूला हुआ-सा लगता है।'' रामने तुरंत उसका भाव पहचान लिया और कहा— ''ये पादुकाएं ले जाओ।'' अंतमें सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अंतमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुकाएं लेकर समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछसे मिटाने जैसा होता। भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परंतु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था, तो भी उसे पादुकाओंकी आवश्यकता महसूस हुई। उनके अभावमें वह राजकाजका भार नहीं उठा सकता था। उन पादुकाओंकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह अपना कर्त्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण रामका भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनोंकी भूमिकाएं बाहरसे भिन्न-भिन्न थीं। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

64. दोनों परस्पर पूरक : कृष्ण-चरित्रके दृष्टांत

24. हरिभक्तिरूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवानने अर्जुनसे बार-बार कहा है— **मय्यासक्तमनाः पार्थ**— ''अर्जुन, मुझमें आसक्त रह, मुझमें भक्ति रख और फिर कर्म करता रहा।'' जिस भगवद्गीताको 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, राग-द्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो, 'अनासक्ति', 'निःसंगता' जिसका ध्रुपद या पालुपद है, वही गीता कहती है— ''अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख।'' पर यहां याद रखना चाहिए कि भगवानमें आसक्ति रखना बड़ी ऊंची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति थोड़े ही है। सगुण और निर्गुण, दोनों एक-दूसरेमें गुंथे हुए हैं। सगुण निर्गुणका आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह उस कर्म द्वारा पूजा ही कर रहा है, परंतु पूजाके साथ रस आर्द्रता चाहिए। **मामनुस्मर युध्य च**— मेरा स्मरण रखते हुए कर्म करो। कर्म स्वयं भी एक पूजा ही है, परंतु अंतरमें भावना सजीव रहनी चाहिए। केवल फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मों द्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है, परंतु दोनोंमें भावनारूपी

आर्द्रता आवश्यक है। फूल चढ़ा दिये, पर मनमें भावना नहीं है, तो वे फूल मानो पत्थर पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति ये सब चीजें एकरूप ही हैं। दोनोंका अंतिम अनुभव एक ही है।

25. उद्धव और अर्जुनकी मिसाल देखो। रामायणसे मैं एकदम महाभारतमें आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है, क्योंकि राम और कृष्ण दोनों एकरूप ही हैं। जैसे भरत और लक्ष्मण, वैसे ही उद्धव और अर्जुन हैं। जहां कृष्ण, वहां उद्धव होंगे ही। उद्धवको कृष्णका वियोग क्षणभर भी सहन नहीं होता था। वह सतत कृष्णकी सेवामें निमग्न रहता। कृष्णके बिना सारा संसार उसे फीका मालूम होता। अर्जुन भी कृष्णका सखा था, परंतु वह दूर, दिल्लीमें रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था; परंतु कृष्ण द्वारकामें, तो अर्जुन हस्तिनापुरमें! ऐसा दोनोंका था।

26. जब कृष्णको देह छोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तो उन्होंने उद्धवसे कहा— "ऊधो, अब मैं जा रहा हूं।" उद्धवने कहा— "मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे ? चलो, हम दोनों साथ ही चलेंगे।" परंतु कृष्णने कहा— "यह मुझे पसंद नहीं। सूर्य अपना तेज अग्निमें रखकर जाता है, उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझमें छोड़ जानेवाला हूं।" इस तरह भगवानने अंतकालीन व्यवस्थाकी और उद्धवको ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान निजधामको चले गये। उसके मन पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ, मानो कुछ हुआ ही नहीं। मरका गुरु, रडका चेला, दोहींचा बोध वायां गेला—'मरियल गुरु, रोवना चेला, दोनोंका बोध व्यर्थ गया !' ऐसा हाल उसका नहीं था। उसे लगा, मानो वियोग हुआ ही नहीं। उसने जीवनभर सगुण उपासना की थी। वह परमेश्वरके सान्निध्यमें ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनंद आने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मंजिल तय करनी पड़ी। सगुण पहले, परंतु उसके बाद निर्गुणकी सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता नहीं होगी।

27. इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था ? अपने बाद सब स्त्रियोंकी रक्षाका भार अर्जुन पर सौंपा था। अर्जुन

दिल्लीसे आया और द्वारकासे श्रीकृष्णके घरकी स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमें हिसारके पास पंजाबके चोरोंने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एकमात्र नर, उत्कृष्ट वीरके नामसे प्रसिद्ध था; जो पराजय जानता ही नहीं था और इसलिए 'जय' नामसे प्रसिद्ध हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकरका सामना किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका उसके मन पर बड़ा असर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया और केवल निस्त्राण और निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। सारांश यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाला निर्गुण उपासक अर्जुनको अंतमें यह वियोग दुःसह और भारी हो गया। उसका निर्गुण अंतमें मुखर हो उठा। उसका सारा कर्म ही मानो समाप्त हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव आया। सारांश, सगुणको निर्गुणमें जाना पड़ता है और निर्गुणको सगुणमें आना पड़ता है। इस तरह दोनोंको एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

65. सगुण-निर्गुणकी एकरूपताके विषयमें स्वानुभव-कथन

28. इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक और निर्गुण उपासकमें क्या भेद है, तो वाणी कुंठित हो जाती है। सगुण और निर्गुण अंतमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे फूटा हो, तो भी अंतमें वह निर्गुण तक जा पहुंचता है।

पुरानी बात है। मैं वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मलबारके किनारे शंकराचार्यका जन्मग्राम है, यह बात मुझे याद थी। जहां होकर मैं जा रहा था, वहीं कहीं पासमें भगवान शंकराचार्यका 'कालड़ी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा और मैंने साथके मलयाली सज्जनसे पूछा। उसने कहा— "यहांसे दस-बारह मील पर ही वह गांव है। आप जाना चाहते हैं क्या ?" मैंने इनकार कर दिया। मैं आया था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कहीं जाना उचित नहीं जान पड़ा और उस समय उस गांवको देखनेके लिए नहीं गया। मुझे आज भी लगता है कि वह मैंने ठीक ही किया। परंतु रातको जब मैं सोने लगा, तो वह कालड़ी गांव और शंकराचार्यकी वह मूर्ति मेरी आंखोंके सामने बार-बार आ खड़ी होती। मेरी नींद उड़ जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ताजा लग रहा है। शंकराचार्यका

वह ज्ञानप्रभाव, उनकी वह दिव्य अद्वैतनिष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक और ज्वलंत वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा और मुझ पर हुए उनके अनंत उपकार— इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगती। रातको सारे भाव जाग्रत होते। तब मुझे इस बातका अनुभव हुआ कि निर्गुणमें सगुण कैसे भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना प्रेम नहीं होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष ठसाठस भरा हुआ है।

मैं अक्सर किसीको कुशलपत्र वगैरह नहीं लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखने पर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, या प्रकटरूपसे सेवा करना और भीतरसे सतत संसारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखायी न देना— इन दोनोंका समान मूल्य और महत्त्व है।

66. सगुण-निर्गुण केवल दृष्टिभेद, अतः भक्तलक्षण प्राप्त करें

29. अंतमें मुझे यह कहना है कि सगुण क्या और निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नहीं है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण सिद्ध हो सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवानकी कल्पना कर लेते हैं। मातामें और संतोंमें प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकट हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता प्रकट है। पर उन्हें परमात्मा मानकर पूजा नहीं करते। ये चैतन्यमय लोग सबको प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। अतः इनकी सेवा करनी चाहिए, उनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परंतु ऐसा न करके लोग पत्थरमें परमेश्वर देखते हैं। एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, मां-बाप, पड़ोसी— इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकार-बुद्धि व्यक्त हुई है। उनमें ईश्वर मानना सरल है। परंतु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके पत्थरको हम गणपति मानते हैं। यह क्या निर्गुण पूजा नहीं है ?

30. बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाये, तो फिर कहांकी जाये ? भगवानकी मूर्ति होनेकी पात्रता

तो उस पत्थरमें ही है। वह निर्विकार है, शांत है। अंधकार हो, प्रकाश हो; गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा-का-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकार पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। मां-बाप, जनता, अड़ोसी-पड़ोसी, ये सब विकारोंसे भरे हैं, अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी अपेक्षा उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

31. सारांश यह कि सगुण-निर्गुण परस्परपूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है, परंतु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है और निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पांचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसों घंटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला और चौबीसों घंटे कुछ भी कर्म न करके सब कर्म करनेवाला, योगी और संन्यासी, दोनों एकरूप ही हैं, वैसे ही यहां भी है। सगुण कर्मदशा और निर्गुण संन्यासयोग, दोनों एकरूप ही हैं। संन्यास श्रेष्ठ है या योग ?— इसका उत्तर देनेमें भगवानको जैसी कठिनाई पड़ी, वैसी ही कठिनाई यहां भी आ पड़ी है। अंतमें सुलभता-कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पड़ा है, अन्यथा योग और संन्यास, सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं।

32. अंतमें भगवान कहते हैं— "अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण; पर भक्त जरूर रहो, पत्थर मत रहो।" यह कहकर भगवानने अंतमें भक्तके लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परंतु उसकी माधुरी चखनेका अवसर हमें नहीं मिला। किंतु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमें कल्पनाकी जरूरत नहीं है। इन लक्षणोंका हम अनुभव लें। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी तरह हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए और इन्हें थोड़ा-थोड़ा अपने जीवनमें उतारकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, 8-5-32

तेरहवां अध्याय

आत्मानात्म-विवेक

67. कर्मयोगके लिए उपकारक देहात्म-पृथक्करण

1. व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्गीतामें उंड़ेल दिया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक दूसरा भी बहुत कुछ लिखा है। महाभारत संहितामें ही लाख-सवा लाख श्लोक हैं। संस्कृतमें 'व्यास' शब्दका अर्थ ही 'विस्तार' ऐसा हो गया है। परंतु भगवद्गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धांत बता दिये हैं, तत्त्वं दिखला दिये हैं, उसी प्रकार व्यासदेवने जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें लिख दिये हैं। भगवद्गीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गयी हैं, उन्हें प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें परख सकता है, बल्कि वे इसीलिए कही गयी हैं कि लोग उन्हें परखें। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी हैं, उतनी ही गीतामें कही गयी हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए व्यासदेवने थोड़ेमें तत्त्व बताकर संतोष मान लिया है। उनकी इस संतोष-वृत्तिमें सत्य तथा आत्मानुभव परका उनका महान विश्वास हमें दिखायी देता है। जो बात सत्य है, उसके समर्थनके लिए विशेष युक्ति काममें लानेकी जरूरत नहीं रहती।

2. हम जो गीताकी बात कर रहे हैं, उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें जब-जब हमें किसी सहायताकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब-तब वह गीतासे हमें मिलती रहे। और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्म पर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनकी बड़ी नींव अगर कोई है, तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणरूपी नींव पर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा, इमारत उतनी ही टिकाऊ होगी। इस स्वधर्माचरणको गीता 'कर्म' कहती है। इस स्वधर्माचरणरूप कर्मके इर्द-गिर्द गीतामें विविध बातें खड़ी कर दी गयी हैं। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गये हैं। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुंदर

बनानेके लिए, और सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोंकी और सहायताकी जरूरत है, वह सारी मदद इस स्वधर्माचरणरूप कर्मको देना जरूरी है। इसलिए अब तक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखीं। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थीं। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है, वह भी स्वधर्माचरणमें बहुत उपयोगी है। उसका संबंध विचार-पक्षसे है।

3. स्वधर्माचरण करनेवालेको फलका त्याग करना चाहिए, वह प्रधान बात गीतामें सर्वत्र कही गयी है। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड़ दें। पेड़को पानी पिलायें, उसकी परवरिश करें; परंतु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा न रखें। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नहीं है; परंतु स्वधर्माचरणरूप कर्म— कोरा कर्म नहीं— भलीभांति करके उसका फल छोड़ देना— यह बात कहनेमें, समझनेमें बड़ी सरल मालूम होती है, परंतु आचरणमें कठिन है। किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही मूलतः फल-वासना मानी गयी है। फल-वासनाको छोड़कर कर्म करना उलटा पंथ है। व्यवहार या संसारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो व्यक्ति बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोगमय है, ऐसा हम कहते हैं; परंतु इस प्रयोगमें भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नहीं है। लाखों कर्म करनेवालोंमें, केवल कर्म ही नहीं बल्कि स्वधर्माचरणरूप कर्म करनेवाले लाखों लोगोंमें भी— गीताके कर्मयोगका आचरण करनेवाला विरला ही मिलेगा। कर्मयोगको सूक्ष्म और सच्चे अर्थमें देखा जाये, तो ऐसा संपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कहीं मिले। कर्म तो करें, परंतु उसके फलको छोड़ दें, यह बिलकुल असाधारण बात है। अब तक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

4. उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करें और उसके फलकी आसक्ति छोड़ दें'— इस पृथक्करणका सहायक दूसरा महान पृथक्करण है, 'देह और आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमें उपस्थित किया गया है। आंखोंसे हम जिस

रूपको देखते हैं, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आंखोंको हो जाये, तो भी वस्तुके अंतरंगमें हमें प्रवेश करना पड़ता है। फलका ऊपरी कवच— छिलका निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पड़ता है। नारियल हो तब भी उसे फोड़कर भीतर क्या है, यह देखना पड़ता है। कटहल पर कांटे लगे रहते हैं, लेकिन भीतर बढ़िया और रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोंकी ओर, यह भीतर और बाहरका पृथक्करण आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुके भीतरी और बाहरी रूपका पृथक्करण किया जाये। बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यह बात है। बाहरी फल कर्मका शरीर है और कर्मकी बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है, वह उस कर्मकी आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फलरूप शरीर छोड़कर भीतरी चित्तशुद्धिरूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें धारण कर लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आंखोंको, मनको, विचारको, ऐसी शिक्षा, ऐसी आदत, ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

68. सुधारका मूलाधार

5. सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल लें, तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने जैसा है। यह दृष्टि स्वीकार करने योग्य है। बहुतोंको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई संबंध नहीं। कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई संबंध भी हो, तो वह नहीं होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके, तो बड़े आनंदकी बात होगी। यह शिक्षाका विषय है। आजकल कुशिक्षाके फलस्वरूप बड़े बुरे संस्कार हो रहे हैं। 'मैं केवल देहरूप हूं'— इस कल्पनामेंसे यह शिक्षा हमें बाहर लाती ही नहीं। सब देहके ही चोंचले चल रहे हैं। किंतु इसके बावजूद देहको जो

स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, या देना चाहिए, वह तो कहीं दिखायी ही नहीं देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गयी है। इस तरह देहकी पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता हैं।

ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कहीं पांवमें ठोकर लग गयी, तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतनेभरसे काम निपट जाता है या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत महसूस नहीं होती। थोड़ी-बहुत चोट-खुरच लगी तो वह चिंता भी नहीं करेगा, परंतु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका इतनेसे नहीं चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर कहेगा— ''हाय राम, चोट लग गयी! कैसे लगी, कहां लगी ? अरेरे, खून निकल आया है!'' ऐसा कहकर, वह बच्चा न रोता हो तो उलटा उसे रुला देता है। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेकी इस वृत्तिको क्या कहा जाये ? कहते हैं— ''कूदफांद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पड़ोगे, चोट लग जायेगी'', इस तरह देह पर ही ध्यान देनेवाली एकांगी शिक्षा दी जाती है।

6. बच्चेकी प्रशंसा भी करते हैं, तो देहपक्षको लेकर और उसकी निंदा भी देहपक्षको लेकर ही करते हैं। कहते हैं— ''कैसा गंदा है रे'' इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है। कैसा मिथ्या आरोप है यह! गंदगी है, यह सही है। उसे साफ करना चाहिए, यह भी सही है। लेकिन इस गंदगीको सहज साफ न करके उस बच्चे पर इस तरह आघात किया जाता है। बच्चा उसे सहन नहीं कर पाता। वह बड़ा दु:खी हो जाता है। उसके अंतरंगमें, उसकी आत्मामें स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गंदे होनेका यह कैसा व्यर्थ आरोप! वास्तवमें वह लड़का गंदा नहीं है। जो अत्यंत सुंदर, मधुर, पवित्र, प्रिय परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है। परंतु उसे कहते हैं 'गंदा।' उस गंदगीसे उसका क्या संबंध है; यह बात बच्चेकी समझमें नहीं आती, इसलिए वह इस आघातको सहन नहीं कर पाता। उसके चित्तमें क्षोभ होता है और क्षोभ उत्पन्न होने पर सुधार नहीं होता। अतः उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

7. इसके विपरीत कृति करके उस लड़केके मन पर हम यह अंकित करते हैं कि वह देह है। शिक्षा-शास्त्रमें इसे एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत मानना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हूं, वह सर्वांग सुंदर है। सवाल गलत होने पर मुंह पर थप्पड़ लगाते हैं। उस चांटेका और सवालकी गलतीका क्या संबंध ? स्कूलमें देरसे आया, तो लगाया चांटा। चांटेसे उसके गाल पर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह स्कूलमें जल्दी आयेगा ? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं ? बल्कि सच पूछिए तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशु-वृत्ति ही बढ़ाते हैं। 'तुम यह देह ही हो'— यह भावना पक्की करते हैं। उसका जीवन डरकी भावना पर खड़ा किया जाता है। यदि हमें सचमुच सुधार करना है, तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढ़ानेसे कभी नहीं हो सकता। जब मैं यह समझ लूंगा कि मैं देहसे भिन्न हूं, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

8. देहमें अथवा मनमें रहनेवाले किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नहीं। इससे उस दोषको दूर करनेमें सहायता मिलती है; परंतु हमें यह बात साफ तौरसे मालूम रहनी चाहिए कि 'मैं देह नहीं हूं'। 'मैं' जो हूं, सो इस देहसे सर्वथा भिन्न, पृथक्, अत्यंत सुंदर, उज्ज्वल, पवित्र, निर्दोष हूं। अपने दोषोंको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षण करता है, वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अतः जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो उसे गुस्सा नहीं आता; बल्कि इस शरीररूपी, इस मनोरूपी यंत्रमें क्या दोष है, इसका विचार करके वह अपना दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे पृथक् नहीं मानता, वह सुधार कर ही नहीं सकता। 'यह देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं'— ऐसा जो मानता है, वह अपना सुधार कैसे करेगा ? सुधार तभी हो सकेगा, जब हम यह मानेंगे कि यह देह साधन रूपमें मुझे मिली है। चरखेमें यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया, तो क्या मुझे गुस्सा आता है ? बल्कि कोई दोष होता है, तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी है। जैसे खेतीके औजार, वैसी ही यह देह है। देह भगवानके घरकी खेतीका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाये, तो उसे अवश्य सुधारना चाहिए। यह देह एक साधनके

रूपमें प्रस्तुत है। अतः देहसे अपनेको अलग रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देहरूपी साधनसे मैं पृथक् हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग होनेकी वृत्ति सिखानी चाहिए।

9. खेलसे अलग रहनेवाले तटस्थ लोग जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई कहता है— "इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी.है, इसका कोई उपाय बताइए न!" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है— "मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गयी है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई स्वयं खो गया है, ऐसा नहीं होता। अंतमें मरते समय भी उसकी देह ही सब तरहसे नष्ट होती है, बेकार हो जाती है, पर वह स्वयं तो भीतरसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह निर्दोष और निरोग रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाये, तो इससे बहुतेरी झंझटोंसे छुटकारा मिल जायेगा।

69. देहासक्तिसे जीवन अवरुद्ध

10. 'देह ही मैं हूं', यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फलस्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देह-पुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है। मनुष्यको सदैव लगता रहता है कि यह देह पुरानी हो गयी, जीर्ण-शीर्ण हो गयी, तो भी येन-केन प्रकारेण इसे बनाये ही रखना चाहिए; परंतु आखिर इस देहको, इस छिलकेको आप कब तक टिकाकर रख सकेंगे ? मृत्यु तक ही न ? जब मौतकी घड़ी आ जाती है तो क्षणभर भी शरीर टिकाये नहीं रख सकते। मृत्युके आगे सारा गर्व ठंडा पड़ जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मांस खानेमें कोई हर्ज नहीं है। मानो मनुष्यकी देह बड़ी कीमती है! उसे बचानेके लिए मांस खाओ।

तो पशुकी देह क्या कीमतमें कम है ? और है, तो क्यों ? मनुष्य-देह क्यों कीमती सिद्ध हुई ? क्या कारण है ? पशु चाहे जिसे खाते हैं, सिवा स्वार्थके वे दूसरा कोई विचार ही नहीं करते ! मनुष्य ऐसा नहीं करता, वह अपने आसपासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अतः मानव-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है। परंतु जिस कारण मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको तुम मांस खाकर नष्ट कर देते हो ! भले आदमी, तुम्हारा बड़प्पन तो इसी बात पर अवलंबित है न कि तुम संयमसे रहते हो, सब जीवोंकी रक्षाके लिए उद्योग करते हो, सबकी सार-संभाल रखनेकी भावना तुममें है। पशुसे भिन्न जो यह विशेषता तुममें है उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है ? इसीसे मानव-देह 'दुर्लभ' कही गयी है। परंतु जिस आधार पर मनुष्य बड़ा, श्रेष्ठ हुआ है, उसीको यदि वह उखाड़ने लगे, तो फिर उसके बड़प्पनकी इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु जो अन्य प्राणियोंका मांस खानेकी क्रिया करते हैं, वही क्रिया यदि मनुष्य निःसंकोच होकर करने लगे, तो फिर उसके बड़प्पनका आधार ही खींच लेने जैसा होगा। यह तो जिस डाल पर मैं बैठा हूं, उसीको काटनेका प्रयत्न करने जैसा हुआ।

11. आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुकी देह पर शल्यक्रिया करके उसके शरीरमें— उस जीवित पशुके शरीरमें रोग-जंतु उत्पन्न करते हैं और देखते हैं कि उन रोगोंका उसपर क्या असर होता है। सजीव पशुको इस तरह महान कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग इस क्षुद्र मानव-देहको बचानेके लिए किया जाता है ! और यह सब चलता है 'भूत-दया' के नाम पर। पशुके शरीरमें जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमें डालते हैं। ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो कच्चे कांचकी तरह है, जो पलभरमें ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं। यद्यपि मानवदेहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर भी अंतमें अनुभव क्या आता है ? ज्यों-ज्यों इस नाजुक देहको संभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों इसका नाश हो रहा है। यह प्रतीति हमें हो रही है, फिर भी इस देहको मोटी-ताजी करनेका प्रयत्न जारी ही है।

12. हमारा ध्यान कभी इस बातकी ओर नहीं जाता कि किस प्रकारका आहार करनेसे बुद्धि सात्त्विक होगी। मनुष्य देखता भी नहीं कि मनको अच्छा बनानेके लिए क्या करना चाहिए और किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसीकी चिंता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीर पर कैसे चिपक जाये, मिट्टीके लोंदे उसके शरीर पर कैसे लद जायें! पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कंडा सूखने पर नीचे गिर पड़ता है, उसी तरह शरीर पर चढ़ाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अंतमें गल जाती है और शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या कि हम शरीर पर इतनी मिट्टी चढ़ा लें, इतना वजन बढ़ा लें कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके ? शरीरको इतना थुलथुल बनाया ही क्यों जाये ? यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः इसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब हमें करना चाहिए। यंत्रसे काम लेना चाहिए। लेकिन क्या कहीं यंत्रका भी अभिमान— 'यंत्राभिमान' भी होता है ? फिर इस शरीररूपी यंत्रके संबंधमें भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें ?

13. सारांश, यह देह साध्य नहीं, साधन है। यदि हमारा यह भाव दृढ़ हो जाये, तो फिर शरीरका जो वृथा आडंबर रचा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमें निराले ही ढंगका दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमें हमें गौरवका अनुभव नहीं होगा। वस्तुतः इस देहके लिए एक सादा कपड़ा काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं वह नरम हो, मुलायम हो, उसका बढ़िया रंग हो, सुंदर छपाई हो, अच्छे किनारे-बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों ? उस भगवानको क्या अक्ल नहीं थी ? यदि इस देहके लिए सुंदर बेल-बूटों और नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे बाघके शरीर पर उसने धारियां डाल दी हैं, वैसे क्या तुम्हारे-हमारे शरीर पर नहीं डाल देता ? उसके लिए क्या यह असंभव था ? वह मोरकी तरह सुंदर पिच्छ हमें भी लगा सकता था; परंतु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। उसमें जरा-सा दाग पड़ जाता है, तो उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुंदर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-

देहको सजाया जाये। सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है ? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आंखोंसे इसे निहारता रहे; परंतु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं कि जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंगका शौक लगा! उसीके लिए तुम परावलंबी हो गये। व्यर्थ ही तुम इस शरीर-शृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सजाना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुंदर बनाना तो एक तरफ ही रह गया।

70. तत्त्वमसि

14. इसलिए भगवानने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' तत् त्वमसि— वह आत्मरूप तू है। यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्‌गार है। पावन और उदात्त वचन है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान विचार समाविष्ट किया गया है— ''यह ऊपरका कवच, छिलका, तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल तू है।'' जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं'— यह भाव मनमें जम जायेगा, उसी क्षण उसके मनमें एक प्रकारका अननुभूत आनंद लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेका— नष्ट कर डालनेका— सामर्थ्य संसारकी किसी भी वस्तुमें नहीं है, किसी भी व्यक्तिमें नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमें भरा हुआ है।

15. इस देहसे परे अविनाशी और निष्कलंक जो आत्मतत्त्व है, वही मैं हूं। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरीय तत्त्वके दूषित हो जानेकी संभावना होगी, तब-तब मैं उसे बचानेके लिए इस देहको फेंक दूंगा। परमेश्वरीय तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूंगा। मैं जो इस देह पर सवार होकर आया हूं, सो क्या इसलिए कि अपनी दुर्दशा कराऊं? देह पर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका उपयोग करूंगा और इसके द्वारा हित-मंगलकी वृद्धि करूंगा। आनंदें भरीन तिन्ही लोक— 'त्रिलोकमें आनंद भरूंगा।' इस देहको मैं महान तत्त्वोंके लिए फेंक दूंगा और ईश्वरका जयजयकार करूंगा। रईस आदमी कपड़ा मैला होते ही उसे फेंक देता है और दूसरा पहन लेता है, वैसे ही मैं भी करूंगा। कामके लिए इस

देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक नहीं रह जायेगी, उस समय इसे फेंक देनेमें मुझे कोई हर्ज नहीं।

16. सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षा मिलती है। देह और आत्मा, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्यके यह ध्यानमें आयेगा, जब वह इस मर्मको समझ जायेगा, उसी दिन उसकी सच्ची शिक्षाकी, वास्तविक विकासकी शुरुआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अतः प्रत्येकको यह भावना हृदयमें अंकित कर लेनी चाहिए। देह तो निमित्तमात्र साधन है, परमेश्वरका दिया हुआ एक औजार है। जिस दिन उसका उपयोग समाप्त होगा, उसी दिन उसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपड़े हम गर्मियोंमें फेंक देते हैं, रातको ओढ़े हुए कंबल सुबह हटा देते हैं, सुबहके कपड़े दोपहरको निकाल देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जब तक देहका उपयोग है, तब तक उसे रखेंगे। जिस दिन इसका उपयोग नहीं रहेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान यह युक्ति हमें बता रहे हैं।

71. जालिमकी सत्ता समाप्त

17. जब तक हम यह नहीं समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूं, तब तक जालिम लोग, हम पर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें बंदा, 'गुलाम' बनाते रहेंगे, हमें बेहाल कर डालेंगे। भयके कारण ही जुल्म शक्य होता है।

एक राक्षसने एक आदमीको पकड़ रखा था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम न करता, तो राक्षस कहता— "खा जाऊंगा, तुझे चट् कर डालूंगा।" शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहा, परंतु जब वह धमकी असह्य हो गयी, तो उसने कहा— "ले, खा डाल। खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे थोड़े ही खा जानेवाला था! उसे एक बंदा, गुलाम चाहिए था। खा जाने पर उसका काम कौन करता ? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परंतु ज्यों ही यह जवाब मिला 'ले, खा जा', त्यों ही उसका जुल्म बंद हो गया।

जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनकी देहको कष्ट पहुंचा कि ये गुलाम बने। परंतु जहां आपने देहकी आसक्ति छोड़

दी कि तुरंत सम्राट् बन जायेंगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायेगा। फिर आप पर किसीका हुक्म नहीं चलेगा। जुल्म करनेका आधार ही टूट जायेगा। उसकी बुनियाद ही इस भावना पर है कि 'देह मैं हूं'। वे समझते हैं कि इनकी देहको सताया कि ये वशमें आये। इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते हैं।

18. 'मैं देह हूं'— मेरा इस भावनाके कारण ही दूसरोंको मुझ पर जुल्म करने की, सतानेकी इच्छा होती है। परंतु इंग्लैण्डके शहीद क्रेन्मरने क्या कहा था ? "मुझे जलाते हो! अच्छा जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लॅटिमरने कहा था— "तुम जलाना चाहते हो ? हमें कौन जला सकता है ? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीररूपी इस मोमबत्ती को, इस चरबीको जलाकर सत् तत्त्वोंकी ज्योति जलाये रखना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायेगी, वह तो मिटनेवाली ही है।"

19. सुकरातको विष देकर मारनेकी सजा दी गयी। उसने कहा— "मैं अब बूढ़ा हो गया हूं। चार दिनके बाद देह छूटनेवाली ही थी। जो मरनेवाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी बहादुरी कर रहे हैं ? जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है, उसे मारनेमें कौन-सी बहादुरी है ?" जिस दिन सुकरातको विष दिया जानेवाला था, उससे पहली रात वह शिष्योंको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमें विषका प्रवेश होने पर उसे क्या-क्या वेदनाएं होंगी, इसका वर्णन वह मजेसे कर रहा था। उसे उसकी रत्तीभर भी चिंता न थी। आत्माकी अमरता संबंधी यह चर्चा समाप्त होने पर उसके एक शिष्यने पूछा— "मरने पर आपकी अंत्येष्टि कैसेकी जाये ?" उसने जवाब दिया— "खूब, वे मारेंगे और तुम गाड़ोगे! तो क्या वे मारनेवाले मेरे दुश्मन और तुम गाड़नेवाले मुझसे बड़ा प्रेम करनेवाले हो ? वे अक्लमंदीसे मुझे मारेंगे और तुम समझदारीसे मुझे गाड़ोगे ? तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले ? मैं तुम सबको गाड़कर शेष बचनेवाला हूं। किसमें गाड़ोगे मुझे ? मिट्टीमें या नास में ? मुझे न कोई मार सकता है, न कोई गाड़ ही सकता है। अब तक मैंने क्या समझाया तुम लोगों को ? आत्मा अमर है, उसे कौन मार सकता है, कौन गाड़ सकता

है ?" और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान सुकरात सबको गाड़कर जिंदा है।

72. परमात्म-शक्ति पर विश्वास

20. सारांश, जब तक देहकी आसक्ति है, भय है, तब तक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। तब तक सतत डर लगा रहेगा। यह डर बना रहेगा कि कहीं नींदमें सांप आकर काट न खाये, चोर आकर घात न कर जाये। मनुष्य सिरहाने डंडा लेकर सोता है। 'क्यों ?' तो कहता है— "पासमें रखना अच्छा है, कहीं चोर-वोर आ जाये तो ?" अरे भले आदमी! कहीं चोर वही डंडा उठाकर तुम्हारे सिर पर मार दे तो ? चोर यदि डंडा लाना भूला गया हो, तो तुम उसके लिए पहलेसे ही तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसे सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो! तुम जागते होगे, तभी न बचाव करोगे ? नींदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

21. मैं किसी-न-किसी शक्ति पर विश्वास करके सोता हूं। जिस शक्ति पर भरोसा रखकर बाघ, गाय आदि जानवर सोते हैं, उसीके भरोसे मैं भी सोता हूं। बाघको भी तो नींद आती है। जो सारी दुनियासे वैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, ऐसा सिंह भी सोता ही है। उस शक्ति पर यदि विश्वास न होता, तो कुछ बाघ सोते और कुछ जगकर पहरा देते— ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्ति पर विश्वास रखकर क्रूर ऐसे भेड़िया, बाघ, सिंह आदि जीव भी सोते हैं, उसी विश्वव्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हूं। मांकी गोदमें बच्चा निश्चिंत सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास और ज्ञानपूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधार पर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। उस शक्तिकी मुझे उत्तरोत्तर प्रतीति होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायेगा, वैसे-वैसे मेरा विकास होता जायेगा। इस तेरहवें अध्यायमें इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

73. परमात्म-शक्तिका उत्तरोत्तर अनुभव

22. जब तक देहस्थित आत्माका विचार नहीं आता, तब तक मनुष्य साधारण क्रियाओंमें ही तल्लीन रहता है। भूख लगी तो खा लिया, प्यास लगी तो पानी पी लिया, नींद आयी तो सो गये। इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्तिका लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरंभ तो इसके बाद होता है। इस समय तक आत्मा सिर्फ देखती रहती है। मां जिस तरह कुएंकी ओर रेंगते जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हम पर निगाह रखे खड़ी रहती है। शांतिके साथ वह सब क्रियाओंको देखती है। इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'— सांक्षीरूपसे सब देखनेवाला कहा है।

23. इस अवस्थामें आत्मा देखती है, परंतु अभी वह सम्मति नहीं देती। परंतु यह जीव, जो अब तक अपनेको देहरूप समझकर सब क्रिया, सब व्यवहार, करता है, वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूं! जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब पग-पग पर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाएं रुकती हैं। स्वच्छंदताकी जगह संयम आता है।

24. जब जीव इस नैतिक भूमिकामें आता है, तब आत्मा केवल चुप बैठकर नहीं देखती, वह भीतरसे अनुमोदन करती है। 'शाबाश' ऐसी धन्यताकी आवाज अंदरसे आती है। अब आत्मा केवल 'उपद्रष्टा' न रहकर 'अनुमंता' बन जाती है।

कोई भूखा अतिथि द्वार पर आ जाये, आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें और फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिए मनको कितना आनंद होता है! भीतरसे आत्माकी हलकी-सी आवाज आती है, 'बहुत अच्छा किया'। मां जब बच्चेकी पीठ पर हाथ फिराकर कहती है— 'अच्छा किया बेटा', तो उसे ऐसा लगता है, मानो दुनियाकी सारी बख्शिश उसे मिल गयी। उसी तरह हृदयस्थ परमात्माके 'शाबाश बेटा', शब्द हमें प्रोत्साहन और प्रेरणा देते हैं। ऐसे

समय जीव भोगमय् जीवन छोड़कर नैतिक जीवनकी भूमिकामें आ खड़ा होता है।

25. इसके बादकी भूमिका है— नैतिक जीवनमें कर्त्तव्य करते हुए अपने मनके सभी मैलोंको धोनेका यत्न करना। परंतु जब मनुष्य ऐसा प्रयत्न करते-करते थकने लगता है, तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है— 'हे भगवन् ! मेरे प्रयत्नों की, मेरी शक्तिकी पराकाष्ठा हो गयी। मुझे अधिक शक्ति दे, अधिक बल दे।' जब तक मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि अपने सभी प्रयत्नोंके बावजूद वह अकेला ही पर्याप्त नहीं है, तब तक प्रार्थनाका मर्म उसकी समझमें नहीं आता। अपनी सारी शक्ति लगाने पर भी, जब वह पर्याप्त नहीं जान पड़ती, तब आर्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा और सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेंसे पानी पी सकता है। जिसे कमी पड़ती हो, वह मांग ले। इस तरहका संबंध इस तीसरी भूमिकामें आता है। परमात्मा और अधिक निकट आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए दौड़ आता है।

26. पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जब तक जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तब तक परमात्मा दूर खड़ा रहता है। वह कहता है— "ठीक है, मारने दो हाथ-पैर।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा केवल तटस्थ नहीं रहता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान धीरे-से झांकता है और कहता है— 'शाबाश!' इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्तके स्थूल मैल धुल जाते हैं, सूक्ष्म मैल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब वह परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कहकर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहां आ खड़ा होता है। जगत्का सेवक सूर्यनारायण आपके द्वार पर सदैव खड़ा ही है। बंद द्वारको तोड़कर सूर्य भीतर नहीं घुसेगा, क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादाका पालन करता है। वह दरवाजेको धक्का नहीं देता। भीतर मालिक सोया है, इसलिए

सूर्यरूपी सेवक दरवाजेके बाहर खड़ा रहता है। जरा-सा दरवाजा खोलते ही वह सारा-का सारा प्रकाश लेकर भीतर घुस आता है और अंधेरा दूर कर देता है। परमात्मा भी ऐसा ही है। उससे मदद मांगी कि वह बांह फैलाकर आया ही। भीमाके किनारे (पंढरपुर में) कमर पर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है। **उभारूनि बाहे। विठो पालवीत आहे॥** (बांह उठाकर विठ्ठल बुला रहे हैं)। ऐसा वर्णन तुकाराम आदि ने किया है। नाक खुली रखी कि हवा भीतर घुसी। दरवाजा जरा-सा खोला कि प्रकाश भीतर आया। वायु और प्रकाशके दृष्टांत भी मुझे अधूरे मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक समीप, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमंता न रहकर 'भर्ता'— सब तरह सहायक— बनता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए असहाय होकर जब हम पुकारते हैं— **मारी नाड तमारे हाथे हरि संभाळजो रे**; हम प्रार्थना करते हैं— **तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है**; तब फिर वह दयाघन कैसे दूर रहेगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पड़ता है। तब वह रैदासके चमड़े धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है और जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

27. इसके बादकी सीढ़ी है— परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिले, उसे स्वयं न लेकर उसीको अर्पण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है— "तेरे ये फल तू ही ले।" नामदेव धरना देकर बैठ गया कि "प्रभु, तुझे दूध पीना ही पड़ेगा!" कितना मधुर प्रसंग है! वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवानको अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूंजी, सारी कमाई जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई, उसीको वह समर्पित करनी है। धर्मराज स्वर्गमें चरण रखनेवाले ही थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्यफल— स्वर्गलाभ— एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ तत्काल ईश्वरार्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा', 'अनुमंता', 'भर्ता'— इन स्वरूपोंमें प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामें आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीरमें भोगोंको भोगता है।

28. इसके बाद संकल्प करना भी छोड़ देना है। कर्ममें तीन सीढ़ियां आती हैं। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादमें फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीको अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर! अब उस कर्मका संकल्प करनेवाला भी परमेश्वर ही हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अंतमें सर्वत्र प्रभुको ही रहने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माळीये जेउतें नेलें। तेउतें निवांत चि गेलें।
तया पाणिया ऐसें केलें। होआवें गा॥

— 'माली जिधर ले जाये, उधर ही चुपचाप चले जानेवाले पानीकी तरह बनो।' माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है, उधर ही वह बिना चीं-चपड़ किये चला जाता है। मालीकी पसंदके फल-फूलके पौधोंको पानी पोसता और बढ़ाता है। इसी तरह मेरे हाथों जो होना है, वह उसीको तय करने दो। अपने चित्तके सभी संकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़े पर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने सिर पर क्यों लादकर बैठूं ? वह भी घोड़े की पीठ पर ही क्यों न लाद दूं ? अपने सिर पर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़े पर बैठूंगा, तो भी बोझ घोड़े पर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठ पर क्यों न लाद दूं ? इस तरह जीवनकी सभी हलचल, नाच-कूद, फूलना-फुलाना, सबकुछ करानेवाला अंतमें परमात्मा ही हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही बन जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, केवल देहका पर्दा ही बाकी रहता है। वह हटते ही जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।

29. इस प्रकार **उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः**— इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिकाधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले केवल तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरंभ होने पर हमारे हाथोंसे सत्कर्म होने लगते हैं, तब वह हमें 'शाबाशी' देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मैल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड़ पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवानको अर्पण

करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अंतमें सभी संकल्प उसीको अर्पण करके सारा जीवन हरिमय बनाना है। यही मानवका अंतिम साध्य है। 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' रूपी दो पंखोंसे उड़ते हुए साधकको इस अंतिम मंजिल तक जा पहुंचना है।

74. नम्रता, निर्दंभता आदि मूलभूत ज्ञान-साधना

30. यह सब करनेके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद चाहिए। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए। सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको फेंककर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनका श्रीगणेश करना है। फिर आत्म-प्रयत्न और परमेश्वरीय कृपाके बल पर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामें यदि हम देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लें, तो हमें बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे ईसाका बलिदान याद आता है। उनके शरीरमें कीलें ठोंक-ठोंककर, उनके प्राण ले रहे थे। कहते हैं, उस समय उनके मुंहसे उद्‌गार निकले— "भगवन्, इतनी यातनाएं क्यों देते हैं ?" किंतु फौरन भगवान ईसाने अपनेको संभाला और कहा— "प्रभु, तेरी ही इच्छा पूर्ण हो। इन लोगोंको क्षमा कर। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं!" ईसाके इस उदाहरणमें बड़ा रहस्य भरा है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। कहां तक मंजिल तय करनी है, कहां तक वह तय की जा सकती है, यह ईसा मसीहके जीवनसे मालूम होता है। देह एक छिलकेकी तरह अलग हो रही है— यहां तक मंजिल आ पहुंची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसा मसीहका यह जीवन मेरी आंखोंके सामने आ जाता है। देहसे सर्वथा पृथक् हो जाने का, उससे मानो संबंध टूट जानेका उदाहरण ईसा मसीहका जीवन पेश करता है।

31. देह और आत्माका यह पृथक्करण तब तक शक्य नहीं है, जब तक सत्य-असत्यका विवेक न हो। यह विवेक, यह ज्ञान, हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं 'जानना'। परंतु बुद्धिसे जानना यह ज्ञान नहीं है। मुंहमें कौर डालना भोजन कर लेना नहीं है। मुंहमें डाला हुआ चबाकर

गलेमें जाना चाहिए और वहांसे पेटमें जाकर, पचकर उसका रस, रक्त सारे शरीरमें पहुंचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। ऐसा होगा तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचरित होना चाहिए। हमारे हाथ, पांव, आंख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेंद्रियां और कर्मेंद्रियां विचारपूर्वक ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवानने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके लक्षण हैं — **अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।** ऐसे बीस गुण भगवानने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नहीं रुके कि इन गुणोंको 'ज्ञान' कहते हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट बताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बतायी, उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि 'सद्गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूं।' साधना और साध्य, दोनों एकरूप ही हैं।

32. गीताके इन बीस साधनोंको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिये हैं। उन्होंने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे संबंध रखनेवाले केवल पांच ही श्लोक भगवद्गीतामें हैं; परंतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इन पर सात सौ ओवियां (छंद) लिखी हैं। वे इस बातके लिए बड़े चिंतित थे कि समाजमें सद्गुणोंका विकास हो, सत्यस्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोंका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोंमें उंड़ेल दिया है। मराठी भाषा-भाषियों पर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैंसेकी पीठ पर जो चाबुक लगाया गया, उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठ पर उभर आया। भूतमात्रके प्रति इतनी दयार्द्रता उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होंने विवेचन किया। उनका गुण-वर्णन हम पढ़ें, मनन करें और हृदयमें भर लें। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूं। उनकी मधुर भाषा मेरे मुंहमें आकर बैठ जाये, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े, तो मैं धन्यताका ही अनुभव करूंगा। अस्तु। सार यह कि उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए,

आत्माको देहसे पृथक् करते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वरमय बनानेका यत्न करें।

रविवार, 15-5-32

चौदहवां अध्याय

गुणोत्कर्ष और गुण-निस्तार

75. प्रकृतिका विश्लेषण

1. भाइयो, आजका चौदहवां अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। वह स्वयंपूर्ण है। हमारी आत्माकी गति स्वभावत: ही ऊर्ध्वगामी है; परंतु किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बांध दिया जाता है, तब जैसे वह नीचे खिंचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खींच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें, तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल महान है। आत्माके पांवकी यह देहरूपी बेड़ी यदि हम काट सकें, तो हमें भारी आनंद प्राप्त होगा। फिर मनुष्य देहके दु:खसे दु:खी नहीं होगा। वह स्वतंत्र हो जायेगा। इस देहरूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले, तो फिर संसारमें कौन उसपर सत्ता चला सकता है ? जो स्वयं पर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट हो जाता है। अत: आत्मा पर देहकी जो सत्ता हो गयी है, उसे हटा दो। देहके ये जो सुख-दु:ख हैं, सब विदेशी हैं। सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिलमात्र भी संबंध नहीं है।

2. इन सब सुख-दु:खोंको किस अंश तक देहसे अलग किया जाये, इसकी कल्पना मैंने भगवान ईसाके उदाहरण द्वारा बतायी है। उन्होंने दिखा दिया है कि देह टूट रही हो, फिर भी ह । किस तरह शांत और आनंदमय रहें; परंतु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जैसे एक ओरसे विवेकका काम है, वैसे ही दूसरी

ओरसे वह निग्रहका भी काम है। **विवेकासहित वैराग्याचें बळ,** 'विवेकके साथ वैराग्यका बल'— ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य, दोनों बातोंकी जरूरत है। वैराग्य ही एक प्रकारसे निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें निग्रहकी दिशा दिखायी गयी है। नावको खेनेका काम डांड़ करते हैं, परंतु दिशा दिखानेका काम पतवार करती है। डांड़ और पतवार, दोनों चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दु:खोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोंकी आवश्यकता है।

3. वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवानने चौदहवें अध्यायमें संपूर्ण प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियां हैं, यह बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गये हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन किया जा सके, भेद डाला जा सके, तो वह शीघ्र पराजित किया जा सकता है। भगवानने यहां ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवों की, सारे चराचरकी जो प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात हैं; उसी तरह यहां सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्हीं तीन गुणोंका मसाला भरा है। कहीं कम है, तो कहीं ज्यादा, इतना ही अंतर है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तभी देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलग करनेका तरीका ही है, इन तीन गुणोंकी परीक्षा करके इन्हें जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अंतमें मुख्य वस्तु तक जा पहुंचना है।

76. तमोगुण और उसका उपाय शरीर-श्रम

4. पहले हम तमोगुणको लें। वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखायी देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है, आलस्य। इसी मेंसे फिर नींद और प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोंको जीत लिया, तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमें आलस्य तो बड़ा ही भयंकर है! अच्छे-से-अच्छे आदमी भी आलस्यके कारण बिगड़ जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटे-से लेकर बड़े तक, सबको

बिगाड़ देता है। इस शत्रुने सबको घेर रखा है। यह हम पर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा। दो कौर ज्यादा खा लिये कि इसने लेटनेको विवश किया। जहां ज्यादा लेटे कि आंखोंसे आलस्य टपका। जब तक इस आलस्यको न पछाड़ा, तब तक सब व्यर्थ है। परंतु हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं। इच्छा रहती है कि एक बार दिनरात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें, फिर सारी जिंदगी चैनसे कटे। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है, आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आमतौर पर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आराम मिलना ही चाहिए; परंतु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहें, तो बुढ़ापेमें भी काम करते रहेंगे। बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे। लेकिन उसी समय, कहते हैं कि आराम करेंगे।

5. ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको जरा-सा भी मौका न मिले। नल राजा इतना महान! परंतु पांव धोते हुए जरा-सा हिस्सा सूखा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमेंसे कलि भीतर पैठ गया! नल राजा था तो अत्यंत शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परंतु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया, तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा शरीर खुला पड़ा है। कहींसे भी आलस्य हमारे अंदर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसाने लगती है। आजके समाजकी रचना इस आलस्य पर ही खड़ी है। इससे अनंत दुःख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें, तो सब न सही पर बहुत-से दुःखोंको तो अवश्य ही हम दूर कर सकेंगे।

6. आजकल चारों ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए, आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख है, तो दूसरी ओर अतिशय दुःख। एक ओर संपत्तिका ढेर, तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो ? सभी आवश्यक सुख सहज रूपसे प्राप्त करनेका एक ही उपाय है और वह है आलस्य छोड़कर सब श्रम करनेको तैयार हों। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग

शारीरिक श्रमका निश्चय कर लें, तो बहुत-से दुःख दूर हो जायेंगे।

परंतु आज समाजमें हमें क्या दीखता है ? एक ओर जंग चढ़कर निरुपयोगी बने हुए लोग हैं। श्रीमानोंकी इंद्रियां जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति है। जो मर-पचकर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। छुटकारा नहीं है, इसलिए करते हैं। पढ़े-लिखे समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं— 'व्यर्थ क्यों शारीरिक श्रममें समय गंवायें ?' परंतु कोई ऐसा नहीं कहता— 'यह नींद क्यों लें ?' 'भोजनमें समय क्यों नष्ट करें ? ' भूख लगती है, तो खाते हैं। नींद आती है, तो सो जाते हैं। परंतु जब शारीरिक श्रमका प्रश्न आता है, तभी हम कहते हैं— 'व्यर्थ क्यों अपना समय नष्ट करें ? हम क्यों यह काम करें ? क्यों हम अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें ? हम मानसिक श्रम तो कर ही लेते हैं!' भले आदमी! यदि मानसिक काम करते हैं, तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिए और नींद भी मानसिक ले लीजिए! मनोमय नींद और मनोमय भोजन करनेकी योजना बना लीजिए न!

7. इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हैं। एक तो वे, जो दिनरात पिसते-मरते हैं और दूसरे वे, जो हाथ तक नहीं हिलाते। मेरे एक मित्रने एक दिन कहा— 'कुछ रुंड हैं, तो कुछ मुंड।' एक ओर धड़ है, दूसरी ओर सिर। धड़ सिर्फ खपता है, सिर सिर्फ विचार करता है। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुंड और मुंड, ऐसे दो प्रकार हो गये हैं। परंतु यदि सचमुच ही ये रुंड-मुंड होते, तो अच्छा होता। तब अंध-पंगु-न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अंधेको लंगड़ा रास्ता दिखाता, लंगड़ेको अंधा कंधे पर बैठाता। परंतु यहां केवल रुंडके अथवा केवल मुंडके अलग-अलग गुट नहीं हैं। प्रत्येकमें रुंड और मुंड दोनों हैं। ये जुड़े रुंड-मुंड सब जगह हैं। तब क्या करें ? उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति आलस्य छोड़ दे।

8. आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका यही एक उपाय है। यदि शरीरसे काम न लिया गया, तो इसकी सजा भी प्रकृतिकी

ओरसे मिले बिना नहीं रहेगी। बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पड़ेगी। जबकि हमें शरीर मिला है, तो श्रम करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। इसका पुरस्कार अवश्य मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। कई विचारकों के विचारों में भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिंब प्रकट होता है। विचारशील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, सृष्टिके सान्निध्यमें श्रम करेंगे, तो उनके विचार भी तेजस्वी बनेंगे। शारीरिक रोगका जैसे मन पर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमें क्षय रोग होने पर कहीं पहाड़ पर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोंका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेड़ोंको पानी देने और लकड़ी चीरनेका काम करें, तो क्या बुरा है ?

77. तमोगुणका एक और उपाय

9. पहली बात है आलस्य जीतना; दूसरी बात है नींद जीतना। नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-संतोंकी नींद एक योग ही है। इस प्रकारकी शांत और गहरी नींद परम भाग्यवानोंको ही मिलती है। नींद गहरी, गाढ़ी होनी चाहिए। नींदका महत्त्व लंबाई-चौड़ाई पर नहीं है। बिछौना कितना लंबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा, इस बात पर नींद अवलंबित नहीं है। कुआं जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो, पर यदि गहरी हो, तो उससे बड़ा काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घंटेका अध्ययन, चंचलतासे किये गये तीन घंटेके अध्ययनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लंबी नींद अंतमें हितकर ही होती है, ऐसा नहीं कह सकते। बीमार चौबीसों घंटे बिस्तर पर पड़ा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार भेंट है; लेकिन नींदसे भेंट ही नहीं। सच्ची नींद वह, जो गहरी और निःस्वप्न हो। मरने पर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परंतु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यातनाका हाल मत पूछिए। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं— परा दुःस्वप्न्यं सुव। 'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए।' नींद आरामके

लिए होती है, परंतु यदि उसमें भी तरह-तरहके स्वप्न और विचार पिंड न छोड़ते हों, तो आराम कहां ?

10. तो, गहरी और गाढ़ी नींद आये कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नींदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौने पर जाते ही मनुष्य मुर्देकी तरह पड़ेगा। नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुंदर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अंग्रेज कवि शेक्सपियरने कहा है— 'राजाके सिर पर तो मुकुट है, परंतु सिरमें चिंता है!' राजाको नींद नहीं आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता। जागनेके समय जो सोता है, वह सोनेके समय जागता रहेगा। दिनमें बुद्धि और शरीरका उपयोग न करना, नींद नहीं तो क्या है ? फिर नींदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुख नहीं पाता। तब देर तक सोते पड़े रहते हैं। जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नींदने खा डाला, तो पुरुषार्थ कब किया जायेगा ? आधा जीवन यदि नींदमें ही चला गया, तो फिर क्या प्राप्त कर सकेंगे ?

11. जब बहुत-सा समय नींदमें ही चला जाता है, तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष— 'प्रमाद' सहज ही होने लगता है। निद्रालु मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नींदसे फिर आलस्य बढ़ता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परंतु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात बन बैठी है। विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसीको लगता ही नहीं। किसीसे मिलनेका समय निश्चित करते हैं, परंतु समय पर जाते नहीं। पूछने पर कहते हैं— 'अरे भाई, मैं तो भूल ही गया।' कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गयी है, ऐसा नहीं लगता और सुननेवाला भी संतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नहीं है, ऐसा लोगोंका खयाल बना हुआ-सा दीखता है। परंतु यह गफलत परमार्थमें भी हानिकर है और सांसारिक जीवनमें भी। वास्तवमें विस्मरण एक बड़ा रोग है। उससे बुद्धिमें घुन लग जाती है। जीवन खोखला हो जाता हैं।

12. मनका आलस्य विस्मरणका कारण है। मन यदि जागृत रहे, तो वह भूलेगा नहीं। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरणरूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती। इसीलिए भगवान बुद्ध कहते हैं— **पमादो मच्चुनो पदम्**— 'प्रमाद, विस्मरण, मृत्यु ही है।' इस प्रमाद पर विजय पानेके लिए आलस्य और निद्राको जीतिए। शरीर-श्रम कीजिए और सतत सावधान रहिए। जो-जो काम करेंगे, विचारपूर्वक करिए, यों ही बिना विचारे कोई काम नहीं होना चाहिए, कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधानरूपी रोग दूर हो जायेगा। सारे समयको ठीक तौरसे बांधे रखिए। एक-एक क्षणका हिसाब रखिए, तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नहीं रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुणको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

78. रजोगुण और उसका उपाय स्वधर्म-मर्यादा

13. इसके उपरांत रजोगुणसे मोर्चा लेना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। तमोगुणका ही दूसरा पहलू है, बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब शरीर बहुत सो चुकता है, तो वह हलचल करने लगता है और जब शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है, तब बिस्तर पर पड़ना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुण से तमोगुण पैदा होता है। जहां एक है, वहां दूसरा आया ही समझिए, जिस तरह रोटी आग और गरम राखके बीच फंस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है—'इधर आ, तुझे तमोगुणकी तरफ उड़ाऊं।' तमोगुण कहता है—'मेरी तरफ आ, तुझे रजोगुणकी ओर फेंकता हूं।' इस प्रकार ये रजोगुण और तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटबॉलका जन्म जैसे ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुणकी और तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही बीतता है।

14. रजोगुणका प्रधान लक्षण है—नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, प्रचंड

कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरंपार कर्म-संग चिपकता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोंका वेग काबूमें नहीं रह पाता। इधरका पहाड़ उठाकर उधरका गड्ढा भर डालनेकी इच्छा होती है। समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे पाटने और उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी भरकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदूं, उधर पनामा नहर बनाऊं, ऐसी उधेड़-बुन शुरू होती है। जोड़-तोड़के सिवा चैन नहीं पड़ता। छोटा बच्चा जैसे कपड़ेकी धज्जीको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें वह मिलाओ, उसमें यह मिलाओ; उसे डुबाओ, इसे उड़ाओ, ऐसे ये अनंत खेल रजोगुणके होते हैं। पक्षी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमें क्यों न उड़ें ? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यों न रहें ? इस तरह, नर-देहमें आकर पक्षियों और मछलियोंकी बराबरी करनेमें उसे कृतार्थता मालूम होती है। परकाया-प्रवेशकी तथा दूसरी देहोंके आश्चर्योंका अनुभव करनेकी हवस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है— 'चलो, मंगलकी सैर कर आयें और वहांकी आबादी देख आयें।' चित्त सतत भ्रमण करता रहता है, मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें पैठ गया है। जो जहां है, वह वहां देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है— मैं इतना बड़ा मनुष्य, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे ? किसी पहलवानके शरीरमें मस्ती चढ़ती है। उसे उतारनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी ही ऊर्मियां होती हैं। इनके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरा खोदता है; उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकालता है और उन्हें वह हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी तरह उमंगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है और उसकी तलीका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे 'मोती' नाम देता है। मोतीमें छेद नहीं होता, फिर उसमें छेद करता है। अब ये मोती पहने कहां ? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाता है। मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है ? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

15. रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्नबाधा आते ही वह अंगीकृत

मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड़, ऐसे करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है। इसका परिणाम यही होता है कि अंतमें पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। **राजसं चलमध्रुवम्**— रजोगुणकी सारी कृति चंचल और अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूं बोते हैं और तुरंत खोदकर देखते हैं। वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झटपट सबकुछ उसके पल्ले पड़ना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पांव जमाना वह जानता ही नहीं। यहां जरा-सा काम किया, वहां कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला दूसरी जगह। आज मद्रासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें और परसों बंबई-नागपुर-में! सभी म्युनिसिपैलिटियोंसे मानपत्र पानेकी उसे लालसा रहती है। सन्मान यह एक ही चीज उसे दीखती है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति बड़ी भयानक होती है।

16. रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धंधों, कार्योंमें टांग अड़ाता रहता है। उसे स्वधर्म नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है, अन्य बहुतेरे कार्योंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सबकुछ चंचल है। पर्वतके शिखर परसे गिरनेवाला पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगे, तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है। परंतु वही यदि एक दिशामें बहेगा, तो आगे चलकर उसकी एक नदी बन जायेगी। उसमेंसे शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुंचेगा। इसी तरह मनुष्य यदि अपनी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थितरूपसे लगाये, तो उसके हाथसे कुछ कार्य हो सकेगा। इसलिए स्वधर्मका महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिंतन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए। दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पाये। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई बड़ा अथवा प्रचंड कर्म नहीं। केवल बहुत कर्म करना भी कर्मयोग नहीं है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता है कि फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना। यों तो सृष्टिमें सतत कर्म-कलाप होता

ही रहता है। कर्मयोगका अर्थ है, विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और यों ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कहीं फेंक देना— दोनों सर्वथा भिन्न बातें हैं। दोनोंमें बड़ा अंतर है। हम देखते ही हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यों ही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है, वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्मरूप कर्त्तव्यमें असीम शक्ति रहती हैं। वहां सभी परिश्रम अधूरे पड़ते हैं। अतः उसमें भारी दौड़-धूपके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता।

79. स्वधर्मका निश्चय कैसे करें ?

17. 'यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाये ?'— ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका उत्तर है— 'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्यके जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जनमा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी मां खोजनी नहीं पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको खोजना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही— ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन मां-बापके यहां मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा; जिन पास-पड़ोसियोंके बीच जनमा हूं, उनकी सेवा— ये कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न ? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे सहज ही प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहां कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहां निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह खुद होकर उसके पास आ जाती है। परंतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो, वह सदा धर्म्य ही होता है, ऐसी बात नहीं है। कोई किसान रातको मुझसे कहे— 'चलो, वह बाड़ चार-पांच हाथ आगे हटा दें। मेरा खेत बढ़ जायेगा। अभी कोई है नहीं, बिना शोरगुलके सब काम हो जायेगा!' यद्यपि यह काम मुझे अपना

पड़ोसी बता रहा है और यह सहज प्राप्त-सा भी दीखता है, तो भी असत्य होनेके कारण वह मेरा कर्त्तव्य नहीं ठहरता।

18. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे अच्छी लगती है, उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और धर्म दोनों हैं। इस स्वधर्मको टालनेसे काम नहीं चल सकता। जो मां-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे मां-बाप रहेंगे। यदि मैं कहूं कि वे मुझे पसंद नहीं हैं, तो कैसे काम चलेगा ? माता-पिताका व्यवसाय स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो व्यवसाय वंश-परंपरासे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना, चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है, परंतु यदि वह फिरसे सुव्यवस्थित स्थापितकी जा सके, तो बहुत अच्छा होगा। आज शुरूके पचीस-तीस साल तो नये धंधे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेने पर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस साल तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई संबंध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो! जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जिसका जीनेके साथ संबंध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे। हिंदुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस साल तक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, फिर कहीं काम-धंधा शुरू होता है। इससे उमंग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जनसेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चला जाता है। जीवन कोई खेल नहीं है। पर दुःखकी बात है कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो जीवनका काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्णधर्मकी युक्ति निकाली है।

19. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें, तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र जहां यह व्यवस्था नहीं है वहां भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब एक प्रवाहमें

किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जनमे हैं, इसीलिए स्वधर्माचरणरूपी कर्त्तव्य स्वतः ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्त्तव्य हैं— जिन्हें वास्तवमें कर्त्तव्य कहना ठीक नहीं वे कितने ही अच्छे दिखायी देने पर भी ग्रहण नहीं करने चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातों पर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहां खड़ा है, वहां भी गहरा कुहरा फैला रहता है, परंतु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अंगुली बताकर कहता है— 'वहां घना कुहरा फैला है।' उधरका मनुष्य इसकी ओर अंगुली बताकर कहता है— 'उधर कुहरा घना है।' कुहरा सब जगह है, परंतु पासका दिखायी नहीं देता। मनुष्यको दूरका आकर्षण रहता है। निकटका कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है। परंतु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, घटिया हो, नीरस लगता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही अच्छा है। वही मेरे लिए सुंदर है। जो मनुष्य समुद्रमें डूब रहा हो, उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा मिले, पॉलिश किया हुआ चिकना और सुंदर न मिले, तो भी वही तारनेवाला है। बढ़ईके कारखाने में बहुत-से बढ़िया चिकने और बेल-बूटेदार टुकड़े पड़े होंगे, परंतु वे तो कारखानेमें और यह यहां समुद्रमें डूब रहा है! अतएव वह बेढंगा लकड़ीका टुकड़ा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए। इसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हुई है, गौण मालूम होने पर भी वही मेरे कामकी है। उसीमें मग्न हो जाना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। यदि मैं दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पड़ूंगा, तो पहली सेवा भी जायेगी और दूसरी भी। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे दूर भटक जाता है। अतः स्वधर्मरूप कर्त्तव्यमें ही मग्न रहना चाहिए।

20. जब हम स्वधर्ममें मग्न रहने लगते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है और वह स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। इससे चंचल रजोगुणका सारा जोर ही ढीला पड़ जाता है। नदी जब शांत और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ़ जाये, तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्मरूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा ले सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी

कम ही है। स्वधर्ममें आप शक्ति-सर्वस्व लगा देंगे, तो फिर रजोगुणकी दौड़-धूपवाली वृत्ति समाप्त हो जायेगी। मानो चंचलताका डंक ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुण को जीतनेकी।

80. सत्त्वगुण और उसका उपाय

21. अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत संभलकर बरतना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें ? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुणको पूर्णतः निर्मूल नहीं करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है। परंतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी हो और उसे तितर-बितर करना हो, तो सिपाहियोंको हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नहीं, पांवकी तरफ गोलियां चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नहीं डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जाने पर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जब तक हमारा शरीर कायम है, तब तक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें रहना ही पड़ेगा। तो फिर रज-तमके चले जाने पर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेका अर्थ क्या है ?

सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है। वह अभिमान आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खींच लाता है। लालटेनका प्रकाश स्वच्छरूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अंदरकी सारी कालिख पोंछ देनी पड़ती है। यदि कांच पर धूल जम गयी हो, तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुणरूपी कालिख जमा रहती है, उसे अच्छी तरह दूर करना चाहिए। उसके बाद रजोगुणरूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुण धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला तो अब सत्त्वगुणरूपी कांच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह है कि हम कांचको भी फोड़ डालें ? नहीं! यदि कांच ही फोड़ डालेंगे तो फिर प्रकाशका कार्य नहीं होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए कांच तो चाहिए ही। अतः इस शुद्ध चमकदार कांचको फोड़ें तो नहीं, परंतु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगा दें, जिससे आंखें चकाचौंध न हो जायें। सिर्फ आंखोंको चकाचौंध

न होने देने की जरूरत है। सत्त्वगुण पर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आसक्ति हट जाये। सत्त्वगुणसे काम तो लेना है, परंतु सावधानीसे और युक्तिसे। सत्त्वगुणको निरहंकारी बना देना चाहिए।

22. इस सत्त्वगुणके अहंकारको जीता कैसे जाये ? इसका एक उपाय है— सत्त्वगुणको हम अपने अंदर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणयुक्त कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहां घड़ीभरके लिए आया हुआ मेहमान ही न रहे, बल्कि वह घरका आदमी बन जाये। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमें अभिमान होता है। हम रोज सोते हैं, परंतु उसको दूसरोंसे कहते नहीं फिरते। लेकिन किसी बीमारको पंद्रह दिन नींद न आयी हो और फिर जरा-सी नींद आ जाये, तो वह सबसे कहता है—'कल तो भाई थोड़ी नींद आयी।' उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वासकी क्रियाका ले सकते हैं। सांस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नहीं करते। कोई यह डींग नहीं मारता कि 'मैं एक सांस लेनेवाला महान प्राणी हूं।' हरिद्वारसे गंगामें फेंका तिनका यदि बहता-बहता डेढ़ हजार मील दूर कलकत्तामें पहुंच जाये, तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहजरूपसे बहता चला आया। परंतु यदि कोई बाढ़की उलटी धारामें दस-बीस हाथ तैर गया, तो वह कितनी शेखी बघारेगा! सारांश यह कि जो बात स्वाभाविक होती है, उसका हमें अहंकार नहीं होता।

23. कोई एकाध अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है, तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है। क्यों ? इसलिए कि वह बात सहजरूपसे नहीं हुई। मुन्ना के हाथसे कोई काम अच्छा हो जाये, तो मां उसकी पीठ पर हाथ फेरती है। वरना यों तो मांकी छड़ीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेंट होती है। रातके घने अंधकारमें एकाध जुगनू हो, तो फिर देखिए उसकी ऐंठ! वह एकबारगी अपनी सारी चमक नहीं दिखाता। बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। वह प्रकाशकी आंखमिचौनी खेलता है। परंतु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे, तो फिर उसकी ऐंठ नहीं रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती।

इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओंमें सतत प्रकट होने लगे, तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायेगा। सिंहको अपने शौर्यका अभिमान नहीं रहता, उसे उसका भान भी नहीं रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हम सात्त्विक हैं, इसकी स्मृति भी हमें न होने पाये। प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नहीं रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मानपत्र देने जाये, तो वह कहेगा— 'इसमें मैंने विशेष क्या किया ? मैं प्रकाश देता हूं, तो अधिक क्या करता हूं ? प्रकाश देना ही मेरा जीवन है। प्रकाश न दूं, तो मैं मर जाऊंगा। मैं दूसरी कोई चीज जानता ही नहीं।' ऐसी ही स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सत्त्वगुणका ऐसा स्वभाव ही बन जाये, तो हमें उसका अभिमान नहीं होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करने की, उसे जीतनेकी यह एक युक्ति हुई।

24. दूसरी युक्ति है, सत्त्वगुणकी आसक्ति भी छोड़ देना। अहंकार और आसक्ति, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। यह भेद जरा सूक्ष्म है। दृष्टांतसे जल्दी समझमें आ जायेगा। सत्त्वगुणका अहंकार चला जाने पर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। सांस लेनेका अभिमान तो नहीं होता, परंतु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पांच मिनट तक सांस रोके रहो, तो नहीं बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परंतु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी फूली हुई। अतः लोग उसे देखकर हंसा करते। परंतु हंसोड़ सुकरात कहता— 'मेरी ही नाक सुंदर है। जिस नाकके नासापुट बड़े हों, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुंदर है।' तात्पर्य यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नहीं पर आसक्ति है। सत्त्वगुणके प्रति भी इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूतदया। यह गुण अत्यंत उपयोगी है, परंतु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकें, ऐसा सधना चाहिए। भूतदया आवश्यक है, परंतु उसकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरोंके मार्गदर्शक बनते हैं। उनकी देह भूतदयाके कारण सार्वजनिक हो जाती है। मक्खियां जिस प्रकार गुड़की

भेलीको ढांक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया संतों पर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। संतोंके अंदर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपनी देहकी आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसारकी आसक्ति उन पर हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिंता करने लगती है। परंतु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह महान फल है, उससे भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष हूं— ऐसा कभी नहीं लगना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें हजम कर डालना चाहिए।

25. पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्ति को। सातत्यसे अहंकार जीत सकते हैं। फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फलको भी ईश्वरार्पण करके आसक्तिको जीतें। जीवनमें सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है, तब कभी सिद्धिके रूपमें तो कभी कीर्ति के रूपमें फल सामने आ खड़ा होता है। परंतु उस फलको भी तुच्छ मानिए। आमका पेड़ अपना एक भी फल खुद नहीं खाता। वह फल कितना ही बढ़िया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा, न खाना ही उसे मधुरतर लगता है। उपभोगकी अपेक्षा त्याग अधिक मधुर है।

26. धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सारस्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अंतमें ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागों पर उन्होंने कलश चढ़ा दिया। उन मधुर फलोंको चखनेका उन्हें अधिकार था। परंतु यदि वे उन्हें चख लेते तो सब स्वाहा हो जाता। **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**— यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना महान यह त्याग ! वह सदैव मेरी आंखोंके सामने खड़ा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरण द्वारा उसके अहंकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्तिसे छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त हो गयी।

81. अंतिम बात : आत्मज्ञान और भक्तिका आश्रय

27. अब अंतिम बात! भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहंकारको जीत लीजिए, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिए ; फिर भी जब तक यह शरीर चिपका है, तब तक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देरके लिए हमें

ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोंको जीत लिया, तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अत: सतत जागृत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुसकर जिस तरह खाड़ियां बना लेता है, उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाड़ियां बना लेते हैं। अत: जरा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इंतजाम और पहरा रखिए। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए, जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्मदर्शन नहीं हो पाया है, तब तक खतरा ही समझिए। अत: जैसे भी हो, आत्मज्ञान प्राप्त कर लीजिए।

28. आत्मज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नहीं होगा। तो फिर कैसे होगा ? क्या अभ्याससे ? नहीं, उसका एक ही उपाय है। वह है— 'सच्चे हृदयसे प्रेमपूर्वक भगवानकी भक्ति करना।' आप रज और तम गुणोंको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी जीत लेंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नहीं चलेगा। जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, तब तक काम चलनेवाला नहीं। अत: अंतमें भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखायी देता। इस अध्यायके अंतमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है और भगवानने उत्तर दिया है— "अत्यंत एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है, मायाके उस पार जा सकता है, नहीं तो इस गहन मायाको तरा नहीं जा सकता।" यह भक्तिका सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग है।

रविवार, 22-5-32

पंद्रहवां अध्याय

पूर्णयोग : सर्वत्र पुरुषोत्तम-दर्शन

82. प्रयत्न-मार्गसे भक्ति भिन्न नहीं

1. आज एक अर्थमें हम गीताके छोर पर आ पहुंचे हैं। पंद्रहवें अध्यायमें सब विचारोंकी परिपूर्णता हो गयी है। सोलहवां और सत्रहवां अध्याय परिशिष्टरूप

हैं, अठारहवां उपसंहार है। यही कारण है कि भगवानने इस अध्यायके अंतमें 'शास्त्र' संज्ञा दी है। इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ— ऐसा अंतमें भगवानने कहा है। यह इसलिए नहीं कि यह अंतिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अब तक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धांत बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गयी है। इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोंका संपूर्ण सार इसमें आ गया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोंका कार्य है। वह इस अध्यायमें किया गया है, अतः इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवें अध्यायमें हमने देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्संबंधी प्रयत्नवादकी थोड़ी छानबीनकी। रजोगुण और तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करें— इस तरह यह प्रयत्न करना है। अंतमें कहा गया कि इन प्रयत्नोंके सोलहों आने सफल होनेके लिए आत्मज्ञानकी आवश्यकता है और बिना भक्तिके आत्मज्ञान संभव नहीं।

2. परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यह सूचित करनेके लिए इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें ही संसारको एक महान वृक्षकी उपमा दी गयी है। इस वृक्षमें त्रिगुणोंसे पोषित प्रचंड शाखाएं फूटी हैं। आरंभमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति और वैराग्यरूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। स्पष्ट है कि पिछले अध्यायमें जो साधनमार्ग बताया गया है, वही फिर यहां आरंभमें दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना और सत्त्वगुणकी पुष्टि द्वारा अपना विकास कर लेना है। एक विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोंको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना और बीज बोना दोनों एक ही क्रियाके दो अंग हैं। वैसी ही यह बात है।

3. रामायणमें रावण, कुंभकर्ण और विभीषण, ये तीन भाई हैं। कुंभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण है, विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमें इन तीनोंकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमें रावण और कुंभकर्णका तो नाश ही विहित है। रहा केवल विभीषण-तत्त्व। यदि वह हरिचरण-शरण हो जाये, तो उन्नतिका साधक और पोषक हो सकेगा। इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवें

अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें फिर वह बात आयी है। सत्त्व-रज-तमसे भरे संसारको असंगरूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका निरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र बनो और उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमलका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है।

4. भारतीय संस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओंको, उत्तमोत्तम वस्तुओंको कमलकी उपमा दी गयी है। कमल भरतीय संस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ और पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता और अलिप्तता, ऐसी दुहरी शक्ति कमलमें है। भगवानके भिन्न-भिन्न अवयवोंको कमलकी उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय कमल, शिर-कमल आदि उपमाओंके द्वारा यह भाव हमारे मनमें बैठा दिया है कि सर्वत्र सौंदर्य और पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

5. पिछले अध्यायमें बतायी साधनाको पूर्णता पर पहुंचानेके लिए यह अध्याय है। प्रयत्नमें आत्म-ज्ञान और भक्ति मिल जाये, तो फिर पूर्णता आ जायेगी। भक्ति भी प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान और भक्ति उसी साधनके अंग हैं। वेदमें ऋषि कहते हैं—

यो जागार तं ऋचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।

'जो जागृत रहता है, उससे वेद प्रेम करते हैं, उससे भेंट करनेके लिए वे आते हैं।' अर्थात् जो जागृत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान और भक्ति पृथक् नहीं हैं। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें ही मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्रचितसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

83. भक्तिसे प्रयत्न सुकर होता है

6. मैं जीवनके टुकड़े नहीं कर सकता। कर्म, ज्ञान और भक्तिको मैं पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता, न ये पृथक् हैं ही। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोईके कामको ही देखिए। पांच-सात सौ मनुष्योंकी रसोई बनानेका काम अपनेमेंसे कुछ

लोग करते हैं। यदि इनमें कोई ऐसा मनुष्य हो, जो रसोई बनानेका ठीक-ठीक ज्ञान न रखता हो, तो वह रसोई बिगाड़ देगा। रोटियां कच्ची रह जायेंगी, या जल जायेंगी। परंतु यहां हम यह मानकर चलें कि रसोई बनानेका उत्तम ज्ञान है; फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, 'ये रोटियां मेरे भाइयोंको अर्थात् नारायणको ही खानी हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना और सेंकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है'— ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो, तो पूर्वोक्त ज्ञान रहने पर भी वह इस कामके लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी चाहिए। भक्ति-तत्त्वका रस हृदयमें न हो, तो रसोई स्वादिष्ट नहीं बन सकती। इसलिए तो बिना मांके यह काम नहीं होता। मांके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्था से, प्रेम-भावसे करेगा ? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम कैसे होगा ? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी काममें प्रेम, ज्ञान और कर्म— तीनों चीजोंकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणों पर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पांव भी टूट जाये, तो वह खड़ी नहीं रह सकती। तीनों पांव चाहिए। उसके नाममें ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति और कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य, ये जीवनके तीन पांव हैं। इन तीन खंभों पर जीवनरूपी द्वारका खड़ी करनी है। ये तीन पांव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। उस पर तिपाईका दृष्टांत अक्षरशः लागू होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान और कर्मको पृथक् मानिए, परंतु प्रत्यक्ष रूपसे इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

7. ऐसा होने पर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ लगेगा। 'सुलभ' लगनेक अर्थ यह नहीं कि कष्ट होंगे ही नहीं। उसका अर्थ यही है कि वे कष्ट 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उलटे आनंदरूप मालूम होंगे। शूल फूल जैसे प्रतीत होंगे। भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी क्या है ? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म

करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान ईसा मसीह एक जगह कहते हैं— 'यदि तू उपवास करता है, तो चेहरे पर उपवासके चिह्न नहीं दीखने चाहिए; बल्कि गालों पर सुगंधित उबटन लगे हों, ऐसा चेहरा प्रफुल्लित और आनंदित दीखना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा नहीं दीखना चाहिए।' सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्तिमय हो कि कष्ट भूल जायें। हम कहते हैं न कि 'फलां बहादुर देशभक्त हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ गया।' सुधन्वा तेलकी कढ़ाईमें हंस रहा था। मुंहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी। इसका अर्थ यही कि अपार कष्ट आ पड़ने पर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी नहीं मालूम हुए। पानी पर पड़ी हुई नावको धकेलना कठिन नहीं है; परंतु यदि उसीको धरती परसे, चट्टानों परसे खींचकर ले जाना हो, तो कितनी मेहनत पड़ेगी! नावके नीचे यदि पानी होगा, तो हम सहज ही तर जायेंगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा, तो वह आनंदसे खेयी जा सकेगी। परंतु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेत पड़ी होगी, कंकड़-पत्थर होंगे, खाई-खड्ड होंगे, तो इस नौकाको खींचकर ले जाना बड़ा कठिन काम हो जायेगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है, परंतु आत्मज्ञानके बिना सदाके लिए त्रिगुणोंके उस पार जानेकी आशा नहीं। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्वगुणको आत्मसात् करके भक्तिके द्वारा उसका अहंकार और उसके फलकी आसक्ति जीतनेका प्रयत्न करना। इस साधनाके द्वारा सतत, अखंड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्मदर्शन हो जायेगा। तब तक हमारे प्रयत्नका अंत नहीं आ सकता। यह परम पुरुषार्थकी बात है। आत्मदर्शन कोई हंसी-खेल नहीं है। रास्ता चलते यों ही आत्मदर्शन हो जायेगा, ऐसा नहीं है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गमें शर्त ही यह है कि 'मैं निराशाको एक क्षण भी जगह न दूं। क्षणभर भी मैं निराश होकर न बैठूं।' इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है और कहने लगता है— **तुम कारन तप संयम किरिया, कहो कहां लौं कीजै?** 'भगवन् मैं तुम्हारे लिए कहां तक तप करता रहूं?' परंतु यह कहना

गौण है। तप और संयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायें। 'कहां तक साधना करते रहें ?'— यह भाषा भक्तिमार्गमें शोभा नहीं देती। भक्ति कभी भी अधीरभाव, निराशाभाव पैदा नहीं होने देती। जी ऊबने जैसी कोई बात उसमें नहीं होनी चाहिए। भक्तिमें उत्तरोत्तर उल्लास और उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत सुंदर विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

84. सेवाकी त्रिपुटि : सेव्य, सेवक, सेवा-साधन

8. इस विश्वमें हमें अनंत वस्तुएं दिखायी देती हैं। इनके तीन भाग करें। जब कोई भक्त सुबह उठता है, तो तीन ही चीजें उसकी आंखोंके सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवानकी तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान स्वामी— ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। यह सारी सृष्टि फूल, गंध, धूप-दीप है। तीन ही चीजें हैं— सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा और सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गयी है। परंतु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहींसे अगरबत्ती ले आता है, कुछ नैवेद्य चढ़ाता है। वह चुनकर-छांटकर ही चीजें लेना चाहता है; परंतु पंद्रहवें अध्यायमें जो विशाल सीख दी गयी है, उसमें यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और कुछको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म हैं उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधनमार्गको हमारे मन पर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मत्व हटा रही है और उसमें सुलभता ला रही है।

9. आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है, तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता— 'मैं ही क्यों ज्यादा काम करूं ?' इस बातमें बड़ा सार है। पूजा करनेवालेको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको

मिले, तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा— 'अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पड़ी।' बल्कि उससे उसे अधिक ही आनंद मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें सारे जीवनमें सर्वत्र आना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर पुरुष हूं। 'अक्षर पुरुष' का अर्थ है, कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरंभसे ही सेवा करनेवाला, सनातन सेवक। जैसे हनुमान रामके सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हें आलस्य मालूम नहीं। हनुमानकी तरह ही चिरंजीव यह सेवक खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम 'अक्षर-पुरुष' है। 'परमात्मा' यह संस्था जीवित है और मैं उसका 'सेवक' भी सदैव कायम हूं। प्रभु कायम है, तो मैं भी कायम हूं। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए ? यदि उसने दस अवतार लिये हैं, तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं। वह राम हुआ तो मैं हनुमान, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार, उतने मेरे भी लगने दो ऐसी मीठी होड़! परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव अक्षर-पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी और मैं उसका बंदा सेवक। यह भावना सतत हृदयमें रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनंत रूपोंसे सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

10. सेव्य परमात्मा पुरुषोत्तम, सेवक जीव अक्षर-पुरुष। परंतु यह साधनरूप सृष्टि क्षर है। इसके 'क्षर' होनेमें बड़ा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नहीं, भूषण है। इससे सृष्टिमें नित्य-नवीनता है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान है, यह बड़े भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलते हैं। उसी तरह मैं शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूंगा। अपने साधनोंको मैं नित्य नवीन रूप दूंगा और उन्हींसे उसकी पूजा करूंगा। इस नश्वरताके कारण यह सौंदर्य है।

11. चंद्रकी कला जो आज है, वह कल नहीं। चंद्रका नित्य निराला लावण्य

है। दूजके उस वर्धमान चंद्रको देखकर कितना आनंद होता है। शंकरके ललाट पर उस द्वितीयाके चंद्रकी शोभा प्रकट है। अष्टमीके चंद्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें गिने-चुने मोती ही दिखायी देते हैं। पूर्णिमाको चंद्रमाके तेजसे तारे नहीं दीखते। पूर्णिमाको परमेश्वरका मुखचंद्र दीखता है। अमावास्याका आनंद तो बड़ा गंभीर होता है। उस रात्रिमें कितनी निःस्तब्ध शांति छायी रहती है! चंद्रमाके सर्वग्रासी प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बड़े अगणित तारे पूरी आजादीसे खुलकर जगमगाते रहते हैं। अमावास्याकी रातमें स्वतंत्रता पूर्ण रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान दिखानेवाला चंद्रमा आज वहां नहीं है। अपने प्रकाश-दाता सूर्यसे वह आज एकरूप हो गया है। वह परमेश्वरमें मिल गया। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह संसारको जरा भी दुःख न पहुंचाये। चंद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है; परंतु वह भिन्न-भिन्न रूपोंमें आनंद देता है।

12. सृष्टिकी जो नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छल-छल बह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे, तो उसका एक डबरा बन जायेगा। नदीका पानी अखंडरूपसे बहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूंद गयी, दूसरी आयी। वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनंद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। ग्रीष्म ऋतुमें परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते हैं। वर्षा ऋतुमें हरी-हरी दूब चढ़ायी जाती है। शरद ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प चढ़ाते हैं। तत्तत् ऋतुकालोद्भव फल-पुष्पोंसे भगवानकी पूजाकी जाती है। इसीसे वह पूजा ताजी और नित्य नूतन प्रतीत होती है। उससे जी नहीं ऊबता। छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं कि 'उसपर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ' तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नहीं पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है। वह पेंसिल आड़ी करके उसे जल्दी मोटा बना देता है। परंतु आगे चलकर वह नये-नये अक्षरों को, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़ने लगता है। साहित्यकी नानाविध सुमन-मालाओंका अनुभव लेता है, तब उसे अपार आनंद मालूम होता है। यही बात सेवाके क्षेत्रकी है। साधनोंकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमंग बढ़ती है। सेवा-

वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नश्वरता नित्य नये पुष्प खिला रही है। गांवके निकट श्मशान है, इसीसे गांव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है। बाहरका यह श्मशान यदि मिटा दोगे, तो वह घरमें आकर बैठ जायेगा। तुम ऊब उठोगे उन्हीं-उन्हीं व्यक्तियोंको रोज-रोज देखकर। गर्मियोंमें गर्मी पड़ती है, पृथ्वी तपती है, परंतु इससे घबराओ नहीं। यह रूप बदल जायेगा। वर्षाका सुख लेनेके लिए यह तपन आवश्यक है। यदि जमीन खूब तपी न होगी, तो पानी बरसते ही कीचड़ हो जायेगा। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं मिल पायेंगे।

मैं एक बार गर्मियोंमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। बड़ा आनंद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा— 'सिर तप जायेगा, तो तकलीफ होगी।' मैंने कहा— 'नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी जरा तपने दो।' सिर तपा हुआ हो, उसपर पानीकी धार पड़ने लगे, तो कितना आनंद होता है! परंतु जो गर्मियोंमें तपता नहीं, वह पानी बरसने पर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमें, उस कब्रमें ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक पात्रके नीचे खड़ा रहकर आनंदसे नाचेगा नहीं; परंतु हमारे वे महर्षि मनु, बड़े रसिक और सृष्टि-प्रेमी थे। वे स्मृतिमें लिखते हैं— 'जब पानी बरसने लगे, तो छुट्टी कर दो।' जब वर्षा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे पाठ घोखते रहें ? वर्षामें तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूप होना चाहिए। वर्षामें पृथ्वी और आकाश एक-दूसरेसे मिलते हैं। यह भव्य दृश्य कितना आनंददायी होता है। यह सृष्टि स्वयं हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश, सृष्टिकी क्षरता, नश्वरताका अर्थ है, साधनोंकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसकर सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक और वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परमपुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विविध सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेममूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। मुझसे तरह-तरहके प्रयोग करा रहा है। यदि हमारे जीवनमें ऐसी दृष्टि आ जाये तो कितना आनंद मिलेगा!

85. अहं-शून्य सेवाका ही अर्थ भक्ति

13. गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घड़ी, आध-घड़ी ईश्वरकी पूजा करते हैं, सो तो ठीक ही है। सुबह-शाम जब सुंदर सूर्य-प्रभा अपना रंग छिटकाती है, तब चित्तको स्थिर करके घंटा, आध-घंटा संसारको भूल जाना और अनंतका चिंतन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। परंतु गीताको इतनेसे संतोष नहीं है। सुबहसे शाम तक होनेवाली तमाम क्रियाएं भगवानकी पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, सफाई करते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाड़ते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, अपने जीवन-देवका आंगन साफ कर रहा हूं। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ जाये, तो फिर देखिएगा, आपके व्यवहारमें कितना अंतर पड़ जाता है! हम कितनी सावधानीसे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हें जतनसे डलियामें संभालकर रखते हैं। वे दब न जायें, कुचल न जायें, कुम्हला न जायें इसका कितना ध्यान रखते हैं। कहीं मलिन न हो जायें, इस खयालसे उन्हें नाकके पास भी नहीं ले जाते। यह दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें आ जानी चाहिए। अपने इस गांवमें मेरे पड़ोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो निवास करता है। इस गांवको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूंगा। गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है। हमारे सभी कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायें, इस बातका गीताको बड़ा शौक है। गीता जैसे ग्रंथराजको घड़ी आध-घड़ी पूजासे समाधान नहीं। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

14. गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णता पर पहुंचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक और सेवाके साधनरूप यह सारी सृष्टि— यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाये, तो फिर और क्या चाहिए? तुकाराम कह रहे हैं— **झालिया दर्शन करीन मी सेवा। आणीक कांहीं देवा नलगे दुर्जे**— दर्शन हो जाने पर तेरी सेवा करूंगा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए प्रभो!

फिर तो अखंड सेवा ही होती रहेगी। तब 'मैं' जैसा कुछ रहेगा ही नहीं। मैं-मेरापन सब मिट जायेगा। जो होगा सब परमात्माके लिए! पर-हितार्थ जीनेके

सिवा दूसरा विषय ही नहीं रहेगा। गीता बार-बार यही कह रही है कि मैं अपनेमेंसे 'मैं' को निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊं, भक्तिमय जीवन रचूं। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक और साधनरूप यह सृष्टि! परिग्रहका नाम ही कहां रहा ? जीवनमें अब किसी बातकी चिंता ही नहीं रही।

86. ज्ञान-लक्षण : मैं पुरुष, वह पुरुष, यह भी पुरुष

15. अब तक हमने देखा कि किस तरह कर्ममें भक्तिका मिश्रण करना चाहिए; परंतु उसमें ज्ञान भी चाहिए, अन्यथा गीताको संतोष नहीं होगा। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। केवल बोलनेके लिए हम भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं। कर्मका अर्थ ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नहीं पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे ? गीता कहती है, 'सर्वत्र पुरुष-दर्शन से।' तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक, तुम सेवा-पुरुष; वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष और नानारूपधारिणी, नानासाधनदायिनी, प्रवाहमयी यह सृष्टि भी पुरुष ही!

16. ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवाभाव रखना! तुम्हारे पैरकी चप्पल चर्र-चूं बोल रही है, जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्माका ही अंश है, अतः उसे संभालकर रखो। यह सेवाका साधन चरखा, इसमें भी तेल डालो। देखो, यह आवाज दे रहा है, 'नेति-नेति'— 'सूत नहीं कातूंगा'— कहता है। यह चरखा, यह सेवा साधन भी पुरुष ही है। इसकी माल, इसका यह जनेऊ भली-भाँति रखो। सारी सृष्टिको चैतन्यमय मानो। इसे जड़ मत समझो। ॐकारका सुंदर गान करनेवाला यह चरखा क्या जड़ है ? यह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। भाद्रपदकी अमावास्याको हम अहंकार छोड़कर बैलकी पूजा[1] करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। रोज अपने मनमें इस उत्सवका ध्यान रख करके, बैलोंको अच्छी हालतमें रखकर उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त नहीं होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार अच्छी हालतमें रखो। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि! पूजा करनेका अर्थ यह नहीं कि गुलाल, गंधाक्षत

१. महाराष्ट्रका विशिष्ट त्यौहार जिसे 'पोळा' कहा जाता है।

और फूल चढ़ायें। बरतनोंको कांचकी तरह साफ सुथरा रखना, बरतनोंकी पूजा है। दीपकको स्वच्छ करना दीपक-पूजा है। हंसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जंग खाये, तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवाद्रव्य उत्कृष्ट और निर्मल रखना चाहिए।

सारांश यह कि मैं अक्षर पुरुष, वह पुरुषोत्तम और साधनरूप यह सृष्टि, सब पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गयी, तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आ गया।

17. पहले कर्ममें भक्तिका पुट दिया, अब ज्ञानका भी योग कर दिया, तो जीवनका एक दिव्य रसायन बन गया। गीताने हमें अंतमें अद्वैतमय सेवाके रास्ते पर ला पहुंचाया। इस सारी सृष्टिमें तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहां गीताने हमें सबसे ऊंचे शिखर पर लाकर छोड़ दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, सब एकरूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि, सब एकरूप हो गये। कर्म, भक्ति और ज्ञानमें कोई विरोध नहीं रह गया।

18. ज्ञानदेवने 'अमृतानुभव' में महाराष्ट्रका प्रिय दृष्टांत दिया है—

देव देऊळ परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तीचा वेव्हारु। कां न होआवा॥

— 'पर्वत कुरेदकर देव, मंदिर आदि परिवार बनाया; भक्तिका भी ऐसा व्यवहार क्यों न हो ?' एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर, उस मंदिरमें पत्थरकी गढ़ी हुई भगवानकी मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फूल, ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोद-काटकर बनाते हैं— एक ही अखंड पत्थर अनेक रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए ? स्वामी-सेवक-संबंध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न बन जायें ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाये, ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग

है। स्वामी, सेवक और सेवा-द्रव्य सब एकरूप ही हैं, अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

19. ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाये, वही सच्ची भक्ति करता है। **स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।**— ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी संपूर्ण भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान और परमेश्वरका प्रेम ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करेला कड़ुआ है'— ऐसा ज्ञान हो, तो उसके प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकाध अपवाद हो सकता है; पर जहाँ कड़ुएपनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा। पर मिश्रीका ज्ञान होते ही प्रेम बहने लगता है। तुरंत ही प्रेमका स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना, दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपके माधुर्यकी उपमा क्या रद्दी शक्करसे दी जाये ? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायेगा। यही मानिए कि ज्ञान होना और प्रेम होना, ये दोनों मानो भिन्न क्रियाएं ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्तिको स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा। ज्ञानदेव कहते हैं— **हे चि भक्ति हें चि ज्ञान। एक विठ्ठल चि जाण।।**— 'एक विठ्ठलको ही जान। वही भक्ति है, वही ज्ञान है।' भक्ति और ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

20. जीवनमें परम भक्तिका संचार हो जाने पर जो कर्म होता है, वह भक्ति और ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति और ज्ञान मिलाकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपमेंसे अद्भुत प्रेममय और ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। मां पर मेरा प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता-खपता रहता है, सेवारूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्यरूप है सेवा। प्रेम अनंत सेवा-कर्मोंसे सजकर नाचता है। प्रेम हो तो ज्ञान भी वहां आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन-सी सेवा प्रिय होगी, इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए, नहीं तो वह सेवा कु-सेवा होगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्य द्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है, परंतु मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो, तो ज्ञान निरुपयोगी हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे भिन्न होता है। खेतसे

थके-मांदे आये लड़के पर मां प्रेमकी दृष्टि डालती है और कहती है— 'बेटा, थक गये हो!' परंतु इस छोटे कर्म में, देखिए तो कितना सामर्थ्य है! अपने जीवनके समस्त कर्ममें ज्ञान और भक्तिको ओतप्रोत कीजिए। यही 'पुरुषोत्तमयोग' कहलाता है।

87. सर्व वेद-सार मेरे ही हाथोंमें

21. यह सब वेदोंका सार है। वेद अनंत हैं, परंतु उन अनंत वेदोंका सार-संक्षेप यह पुरुषोत्तम-योग है। वेद हैं कहां ? वेदोंकी बात विचित्र है। वेदोंका सार है कहां ? अध्यायके प्रारंभमें ही कहा है— **छंदांसि यस्य पर्णानि**— 'पत्ते हैं जिसके वेद।' भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमें भरे हुए हैं। वेद उन संहिताओंमें, आपके ग्रंथों और पोथियोंमें छिपे हुए नहीं हैं। वे विश्वमें सर्वत्र फैले हैं। वह अंग्रेज कवि शेक्सपियर कहता है— 'बहते हुए झरनोंमें सद्ग्रंथ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानोंसे प्रवचन सुनायी पड़ते हैं।' सारांश यह कि वेद न संस्कृतमें हैं, न संहिताओंमें, वे सृष्टिमें हैं। सेवा करो तो दिखायी देंगे।

22. **प्रभाते करदर्शनम्**— सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद हाथमें हैं। वह वेद कहता है, 'सेवा करो।' कल हाथने काम किया था या नहीं, आज करनेको तैयार है या नहीं, उसमें कामसे घट्टे पड़े हैं या नहीं, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है, तो फिर ब्रह्मलिखित प्रकट होता है, यह अर्थ है 'प्रभाते करदर्शनम्' का।

23. पूछते हैं, वेद कहां हैं ? भाई, तुम्हारे पास ही तो हैं। हमें-तुम्हें तो जन्मतः ही वे प्राप्त हैं। मैं खुद ही जीता-जागता वेद हूं। अब तककी सारी परंपरा मुझमें आत्मसात् हुई है। मैं उस परंपराका फल हूं। उस वेदबीजका जो फल है, वही तो मैं हूं। अपने फलमें मैंने अनंत वेदोंका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पांच-पचास गुना बड़े हो गये।

24. सारांश, वेदोंका सार हमारे हाथोंमें है। सेवा, प्रेम और ज्ञानकी नींव पर हमें जीवन गढ़ना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोंमें हैं। मैं जो अर्थ करूंगा, वही वेद होगा, वेद कहीं बाहर नहीं हैं। सेवामूर्ति संत कहते हैं— **वेदाचा तो अर्थ आम्हांसी च ठावा**— 'वेदोंका जो अर्थ है, वह एक हम ही जानते हैं।'

भगवान कह रहे हैं— 'सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोंका सत्त्वांश, सार पुरुषोत्तम हूं।' यह जो वेदोंका सार पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें, तो कितना आनंद होगा ? ऐसा पुरुष फिर जो कुछ करता है, उसमेंसे वेद ही प्रकट होते हैं, ऐसा गीता सुझाती है। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्णरूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या ?

रविवार, 29-5-32

सोलहवां अध्याय

परिशिष्ट-1

दैवी और आसुरी वृत्तियोंका झगड़ा

88. पुरुषोत्तम-योगकी पूर्व-प्रभा : दैवी संपत्ति

1. गीताके पहले पांच अध्यायोंमें हमने देखा कि जीवनकी कुल योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते हैं। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवें अध्यायमें भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेंमें सगुण और निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान लक्षण देखे। बारहवें अध्यायके अंत तक कर्म और भक्ति, इन दोनों तथ्योंकी छानबीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसे हमने तेरहवें, चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायोंमें देख लिया— आत्माको देहसे अलग करना और उसके लिए तीनों गुणोंको जीतकर अंतमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पंद्रहवें अध्यायमें जीवनका संपूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

2. कर्म, ज्ञान और भक्तिकी पृथक्ता मुझे सहन नहीं होती। कुछ साधकोंकी ऐसी निष्ठा होती है कि उन्हें केवल कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतंत्र मार्गकी कल्पना करते हैं और उसीपर सारा जोर देते हैं। कुछ लोगोंका झुकाव ज्ञानकी

ओर होता है। जीवनका अर्थ केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान— ऐसा केवल- वाद मुझे मंजूर नहीं। इसके विपरीत कर्म, भक्ति और ज्ञानके जोड़को, यानी समुच्चय-वादको भी मैं नहीं मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान और कुछ कर्म, इस तरहका उपयोगिता-वाद भी मुझे नहीं जंचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान, इस तरहसे क्रम-वादको भी मैं नहीं स्वीकारता। तीनों वस्तुओंका समन्वय किया जाये, यह सामंजस्य-वाद भी मुझे पसंद नहीं है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है वही भक्ति है, वही ज्ञान है। बर्फीके एक टुकड़ेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन अलग-अलग नहीं है। जिस क्षण हम बर्फीका टुकड़ा मुंहमें डालते हैं, उसी क्षण उसका आकार भी हम खा लेते हैं और उसका वजन भी पचा लेते हैं, और उसकी मिठास भी चख लेते हैं। तीनों बातें मिली-जुली हैं। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन और मधुरता है। यह नहीं कि उसके एक टुकड़ेमें केवल आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है और तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए— प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय और ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके अंग -प्रत्यंगमें कर्म, भक्ति और ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे 'पुरुषोत्तम-योग' कहते हैं। सारे जीवनको केवल परमार्थमय ही बना डालना— यह बात बोलनेमें तो बड़ी आसान है। परंतु इस कथनमें जो भाव है, उसका यदि विचार करने लगें, तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अंतःकरणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति और ज्ञान अक्षरशः एकरूप हैं, इस परम दशाको 'पुरुषोत्तम-योग' कहते हैं। यहां जीवनकी अंतिम सीमा आ गयी।

3. अब, आज हम देखें कि इस सोलहवें अध्यायमें क्या कहा गया है ? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी प्रकार जीवनमें कर्म, भक्ति और ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्गुणोंकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभाका वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अंधकारसे झगड़कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी वस्तुको माननेके

लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखना चाहते हैं। सेवा, भक्ति और ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये हैं, यह कैसे समझा जाये। खेत पर हम मेहनत करते हैं, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तियां गहरी पैठीं, कितने सद्गुण हममें आये, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ— इसकी जांच करनेकी ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवनकी कला कितनी ऊंची चढ़ी, इसे नापनेके लिए यह अध्याय है। जीवनकी इस वर्धमान कलाको गीता 'दैवी संपत्ति' का नाम देती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियां हैं, उन्हें 'आसुरी' कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष बताया गया है।

89. अहिंसाकी और हिंसाकी सेना

4. जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना और दूसरी ओर पांडव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहां सद्गुणरूपी दैवी-सेना और दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीनकालसे मानवीय मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गयी है। वेदमें इंद्र और वृत्र, पुराणोंमें देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, पारसियोंके धर्मग्रंथोंमें अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमें प्रभु और शैतान, इसलाममें अल्लाह और इब्लीस— इस तरहके झगड़े सभी धर्मोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल और मोटे विषयोंका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है, तो धर्मग्रंथोंमें सूक्ष्म मनोभावोंका वर्णन उन्हें ठोस स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है, तो यहां सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह नहीं सुझाना है कि गीताके आरंभमें युद्धका जो वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परंतु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्त्तव्यके विषयमें जब मनमें मोह पैदा हो जाता है, तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके रूपकके द्वारा समझायी गयी है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई और बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

5. कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकीसे देखा जाये, तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता है, वही हमें बाहरी जगत्में मूर्तिमान दिखायी देता है। बाहर जो शत्रु खड़ा है, वह मेरे ही मनका विकार साकार होकर खड़ा है। दर्पणमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखायी देते हैं। जैसे हम जागृतिकी ही बातें स्वप्नमें देखते हैं, वैसे ही जो हमारे मनमें हैं, वही हम बाहर देखते हैं। भीतरके और बाहरके युद्धमें कोई अंतर नहीं है। सच पूछिए, तो असली युद्ध भीतर ही है।

6. हमारे अंतःकरणमें एक ओर सद्गुण, तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी व्यवस्थित व्यूह-रचना कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, उसी प्रकार यहां भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रखा है। उसका नाम है— 'अभय' । इस अध्यायमें 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सचाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नहीं है, किंतु सचाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्गुण फैल नहीं सकते, बल्कि भयभीत वातावरणमें सद्गुण भी दुर्गुण बन जायेंगे, सत्प्रवृत्तियां भी कमजोर पड़ जायेंगी। निर्भयत्व सब सद्गुणोंका नायक है; परंतु सेनाको आगा और पीछा, दोनों संभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परंतु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंककर खड़ा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह बड़ी सुंदर रचना की गयी है। यहां कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमेंसे पचीस गुण प्राप्त हो जायें और यदि कहीं उसका अहंकार हो जाये, तो पीछेसे एकाएक चोर-हमलेसे सारी कमाई खो जानेका भय है। इसीलिए पीछे 'नम्रता' नामक सद्गुण रखा गया है। यदि नम्रता न हो, तो यह 'जय' कब 'पराजय' में परिणत हो जायेगी, इसका पता भी नहीं चलेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' और पीछे 'नम्रता' को रखकर सब सद्गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान गुणोंके बीच जो चौबीस गुण रखे गये हैं, वे सब अधिकतर अहिंसाके

पर्यायवाची हैं, ऐसा कहा जा सकता है। भूतदया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह— ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा और सत्य, इन दो गुणोंमें इन सब सद्‌गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्‌गुणोंका यदि संक्षेप किया जाये, तो अंतमें अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जायेंगे। शेष सब सद्‌गुण इनके उदरमें समा जायेंगे, परंतु निर्भयता और नम्रताकी बात अलग है। निर्भयतासे प्रगतिकी जा सकती है और नम्रतासे बचाव होता है। सत्य और अहिंसा, इन दो गुणोंकी पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें अनिरुद्ध संचार करते चले जाना चाहिए। पांव गलत न पड़ जाये, इसके लिंए सदा नम्र रहें, फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। तब निर्भयतापूर्वक सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। तात्पर्य यह कि सत्य और अहिंसाका विकास निर्भयता और नम्रताके द्वारा होता है।

7. एक ओर जहां सद्‌गुणोंकी फौज खड़ी है, वहां दूसरी ओर दुर्गुणोंकी भी फौज तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके संबंधमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दंभके तो जैसे हम आदी हो गये हैं, सारा जीवन ही मानो दंभ पर खड़ा किया गया है। अज्ञानके बारेमें क्या कहा जाये! वह तो एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम पग-पग पर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परंतु भगवान कहते हैं— 'अज्ञान पाप है।' सुकरातने इससे उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरान उसने कहा— "जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम दंड कैसे दोगे ?" परंतु भगवान कहते हैं— "अज्ञान भी पाप ही है।" 'कानूनका अज्ञान' यह कोई बचावकी दलील नहीं हो सकती, ऐसा कानूनमें कहा है। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवानके और सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान बताते हैं, तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पापोंको क्षमा करना चाहिए, परंतु अपने अज्ञानको क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान थोड़ा-सा भी शेष नहीं रहने देना चाहिए।

90. अहिंसाके विकासकी चार मंज़िलें

8. इस तरह एक ओर दैवी संपत्ति और दूसरी ओर आसुरी संपत्ति— ऐसी दो सेनाएं खड़ी हैं। इनमेंसे आसुरी संपत्तिको छोड़ना है और दैवी संपत्तिको पकड़ना है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि कालसे होता आया है। बीचमें जो काल गया, उसमें भी बहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी विकासके लिए बहुत गुंजाइश है। विकासकी मर्यादा समाप्त हो गयी हो, सो बात नहीं। जब तक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तब तक विकासके लिए हमें अनंत अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाये फिर भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासकी खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखों व्यक्तियोंके विकासकी शुरुआत करनी होती है। मानव द्वारा अहिंसाका विकास अनादिकालसे हो रहा है, तो भी आज वह विकास-क्रिया जारी ही है।

9. अहिंसाका विकास किस तरह होता आया है, यह देखने लायक है। उससे यह समझमें आ जायेगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवसर है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमलेसे कैसे बचाव किया जाये? शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया; परंतु वही आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि इन उन्मत्त क्षत्रियोंसे समाजका बचाव कैसे किया जाये? परशुरामने स्वयं अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलंबन किया। वे क्षत्रियोंका विनाश करने लगे। क्षत्रिय हिंसा छोड़ दें, इसलिए वे स्वयं हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था, परंतु सफल नहीं हुआ। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोंको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रियकी वृद्धि उन्होंने की; तो फिर वह क्षत्रिय-वर्ग नष्ट कैसे होता? वे स्वयं ही हिंसक क्षत्रिय बन गये। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर पेड़ोंको काटनेवालेको वे पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी, परंतु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वयं क्षत्रिय बनकर वे

पृथ्वीको नि:क्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुत: उन्हें अपनेसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे अपना ही सिर उड़ा देते। मैं जो यहां परशुरामका दोष दिखा रहा हूं, उसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं, परंतु उनके कंधे पर खड़ा हूं। इससे मुझे अनायास ही अधिक दूरका दिखायी देता है। परशुरामके प्रयोगका आधार ही गलत था। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना संभव नहीं। इससे उलटे हिंसकोंकी संख्या ही बढ़ती है। परंतु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आयी। उस समयके भले-भले आदमियोंने, परम अहिंसामय व्यक्तियोंने, जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसा की।

10. वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणोंसे बचाव कैसे हो ? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय तो हिंसा करनेवाले हैं ही, इन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। कांटेसे कांटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वत: दूर रहें। अत: विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा सोचते हैं कि 'जो अहिंसा स्व-संरक्षित नहीं है, जिसके पांव नहीं है, ऐसी लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी ?' परंतु वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियोंके बल पर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परंतु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो ? विश्वामित्र कहते हैं— 'मैं भले ही मर जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।' क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा दूर करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे— यदि कोई क्षत्रिय नहीं मिला, तो अहिंसक व्यक्ति मर जाना पसंद करेंगे— यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। अरण्यकांडमें एक प्रसंग है। राम पूछते हैं— ''ये ढेर किस चीजके हैं ?'' ऋषि कहते हैं— ''ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार नहीं किया। वे मर मिटे। उन्हींकी

हड्डियोंके ये ढेर हैं।'' इस अहिंसामें ब्राह्मणोंका त्याग तो था; परंतु साथ ही दूसरोंसे अपने संरक्षणकी अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी कमजोरीसे अहिंसा पूर्णताको नहीं पहुंच सकती थी।

11. संतोंने आगे चलकर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया— ''हम अपने बचावके लिए दूसरोंकी सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।'' संतोंका यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होंने पूर्णता तक पहुंचा दिया, परंतु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते और समाज संतोंसे आकर पूछता कि ''अब क्या करें ?'' तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसाका पालन करनेवाले वे संत समाजसे यही कहते— ''भाई, हम निर्बल हैं।'' संतोंकी यह कमी बताना मेरा बाल-साहस होगा, परंतु उनके कंधे पर बैठकर मुझे जो दीखता है, वही मैं बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे क्योंकि उनकी क्षमा महान है। अहिंसाके साधनोंसे सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो नहीं कह सकते; लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परंतु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोंसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोंसे शास्त्र बनता है।

12. संतोंके प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है— सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनोंसे हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अब तक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी और है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परंतु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमें भी बहुत-कुछ हिंसाका अंश दिखायी देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म और भक्तिका ही नहीं, सभी सद्गुणोंका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परंतु व्यक्ति और समुदायके जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना

बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मंत्रोंके द्रष्टा समझे जाते थे, कर्ता नहीं, क्योंकि उन्हें मंत्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नहीं है, क्योंकि उन्हींके आधार पर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहां अहिंसाके ही विकासकी जो बात कर रहा हूं, वह इसलिए कि यदि हम सब सद्गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें, तो वह अहिंसा ही निकलेगा, और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें पड़े हुए भी हैं। इस तरह हमने देखा कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

91. अहिंसाका एक महान प्रयोग : मांसाहार-परित्याग

13. अब तक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों, तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें। मनुष्योंके पारस्परिक झगड़ोंमें अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। किंतु झगड़ा तो मनुष्य और पशुओंमें भी हो रहा है। मनुष्य अभी तक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया। पशुको पेटमें ठूंसकर वह जी रहा है। उसे अपने झगड़े अभी तक मिटाने नहीं आते और अपनेसे हीन दुर्बल पशुओं, जीवोंको खाये बिना वह जी नहीं सकता। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीयें, इसका विचार अभी तक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीना आता नहीं, परंतु अब इस बातका भी विकास हो रहा है। आदिमानव शायद कंद-मूल फलाहारी ही होगा। लेकिन बादमें दुर्मतिवश बहुत-सा मानव-समाज मांसाहारी बना। जो उत्तम और बुद्धिमान व्यक्ति थे, उन्हें यह नहीं जंचा। उन्होंने यह प्रतिबंध लगाया कि यदि मांस ही खाना हो, तो यज्ञमें बलि दिये पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा रुके। बहुतोंने तो पूर्णरूपसे मांस छोड़ दिया, परंतु जो पूर्णतः मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गयी कि वे उसे यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण कर, कुछ तपस्या करें, तब खायें, । उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं'— ऐसा प्रतिबंध लगा देनेसे हिंसा रुक जायेगी, परंतु बादमें यज्ञका सामान्य-क्रम बन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ

करता और मांस खाता। तब भगवान बुद्ध आगे आये। उन्होंने कहा— "तुम्हें मांस खाना हो तो खाओ, परंतु भगवानका नाम लेकर तो मत खाओ!" इन दोनों वचनोंका हेतु एक ही था— हिंसा पर अंकुश रहे, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयमके मार्ग पर आये। यज्ञ-याग करो या न करो— दोनोंसे हमने मांसाशनका त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस-भक्षण छोड़ते गये।

14. संसारके इतिहासमें अकेले भारतवर्षमें ही यह महान प्रयोग हुआ। करोड़ों लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया। आज हम मांस नहीं खाते, इसमें हमारा कोई बड़प्पन नहीं है। पूर्वजोंकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये हैं। परंतु पहलेके ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हम पढ़ें या सुनें, तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। "क्या बकते हो ? ऋषि मांस खाते थे ? कभी नहीं।" परंतु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया, इसका श्रेय उन्हें है। उन कष्टोंका अनुभव आज हमें नहीं होता। उनकी पुण्याई मुफ्तमें हमें मिल गयी है।

पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते, इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गये हैं। उनके अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देनेका प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवोंका दूध पीये, यह बात भी तो हीनताकी है। दस हजार वर्ष बाद लोग हमारे विषयमें कहेंगे— "क्या, हमारे पूर्वजोंको दूध न पीनेका व्रत लेना पड़ा था ? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होंगे, इतने कैसे वे जंगली थे!" सारांश यह कि हमें निडर होकर, नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी पर्याप्त अवकाश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नहीं हुआ है।

92. आसुरी संपत्तिकी तिहरी महत्त्वाकांक्षा : सत्ता, संस्कृति और संपत्ति

15. हमें दैवी संपत्तिका विकास करना है और आसुरी संपत्तिसे दूर रहना है। आसुरी संपत्तिका वर्णन भगवानने इसीलिए किया है कि उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरोंके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति और संपत्ति'

में है। वे कहते हैं— एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है। और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसार पर लादी जाये। आपकी ही संस्कृति क्यों लादी जाये ? तो कहते हैं— 'वही सबसे अच्छी है।' 'अच्छी क्यों है ?' क्योंकि वह 'हमारी' है। चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे ऐसे व्यक्तियोंसे बने साम्राज्य हों, वे इन तीन चीजोंका आग्रह रखते हैं।

16. ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमें भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारे संसारमें होनी चाहिए। **अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः**— इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वी पर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ। परंतु पीछे पर जहां 'सशरं धनुः' होगा वहां आगेवाले बेचारे वेदोंकी समाप्ति ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य धर्मका मनुष्य कितना ही उच्च कोटिका क्यों न हो, उसका यदि ईसामसीह पर विश्वास नहीं होगा तो उसे स्वर्ग मिलनेवाला नहीं। भगवानके घरको उन्होंने केवल एक ही दरवाजा रखा है, वह है ईसामसीहवाला! लोग तो अपने घरोंमें अनेक दरवाजे और खिड़कियां लगाते हैं, परंतु बेचारे भगवानके घरको केवल एक ही दरवाजा रखते हैं।

17. **आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया**— मैं ही कुलीन हूं, मैं ही श्रीमंत हूं, मेरे जोड़का दूसरा कौन है ? सब यही मानते हैं। मैं कौन ? भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। कहते हैं, हमारी नसोंमें नार्मन सरदारोंका रक्त बहता है। हमारे यहां गुरु-परंपरा है न ? मूल आदिगुरु है शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमें दस-पांच नाम और आते हैं, बादमें अपने गुरुका नाम और फिर मैं— ऐसी परंपरा बतायी जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम श्रेष्ठ, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है, तो उसे अपने आचरणमें दीखने दो न! अपने जीवनमें उसकी प्रभा फैलने दो न! परंतु ऐसा नहीं होता। जो संस्कृति स्वयं हमारे जीवनमें नहीं है, हमारे घरमें नहीं है, उसे संसारभरमें फैलानेकी

आकांक्षा रखना— इस विचार-पद्धतिको 'आसुरी' कहते हैं।

18. फिर जैसे मेरी संस्कृति सुंदर है, वैसा ही यह विचार है कि संसारकी सारी संपत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हूं। संसारकी सारी संपत्ति मुझे चाहिए और मैं उसे प्राप्त करूंगा ही। वह संपत्ति किसलिए प्राप्त करनी है ? तो, सबमें समानरूपसे बांटनेके लिए! इसके लिए मैं स्वत: अपनेको धन-संपत्तिमें गाड़ लेता हूं। अकबरने यही तो कहा था— "ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यों नहीं दाखिल होते ? एक साम्राज्य बनेगा, तो शांति स्थापित होगी।" वह प्रामाणिकरूपसे ऐसा मानता था। वर्तमान असुरोंकी भी ऐसी धारणा है कि सारी संपत्ति बटोरना है। क्यों ? उसे फिर सबमें बांटनेके लिए!

19. उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमें केंद्रीभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तंत्रमें आ जानी चाहिए। स्व-तंत्र— मेरे तंत्रके अनुसार चलनी चाहिए। जो मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्रके अनुसार चलेगा, वही स्वतंत्र। इस तरह संस्कृति, सत्ता और संपत्ति— इन तीन मुख्य बातों पर आसुरी संपत्तिमें जोर दिया जाता है।

20. एक समय ऐसा था, जब समाजमें ब्राह्मणोंका प्रामुख्य था। शास्त्र वे लिखते, कानून वे बनाते, राजा उनके समक्ष नतमस्तक होते। वह युग बदला। क्षत्रियोंका युग आया। घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय किये जाने लगे। वह क्षत्रिय-संस्कृति भी आयी और चली गयी। ब्राह्मण कहता— "मैं विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?" ब्राह्मणोंको अपनी संस्कृतिका अभिमान था। क्षत्रियोंका जोर सत्ता पर था— "आज इसे मारा, कल उसे मारूंगा।" इस बात पर उनका सारा जोर रहता था। फिर वैश्योंका युग आया। 'पीठ पर मारो, पर पेट पर मत मारो!' इसमें वैश्योंका सारा तत्त्वज्ञान है। पेटकी सारी अक्ल! 'यह धन मेरा है और वह भी मेरा हो जायेगा'— यही जप और यही संकल्प! अंग्रेज हमें कहते हैं न— "स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परंतु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियतें हमें दे दो, फिर अपनी संस्कृतिका खूब अध्ययन करते रहो। लंगोटी लगाओ और अपनी संस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यापारके लिए होते हैं। यह युग भी जायेगा, जानेका आरंभ

भी हो गया है। इस तरह ये सब आसुरी संपत्तिके प्रकार हैं।

93. काम-क्रोध-लोभ-मुक्तिका शास्त्रीय संयम-मार्ग

21. हम आसुरी संपत्तिको दूर हटाते रहें। संक्षेपमें कहें, तो आसुरी संपत्तिका अर्थ है— 'काम, क्रोध, लोभ।' ये ही तीनों सारे संसारको नचा रहे हैं। अब इस नृत्यको समाप्त करो। हमें यह छोड़ देना ही चाहिए। क्रोध और लोभ कामसे पैदा होते हैं। कामके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेसे लोभ पैदा होता है और प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें पद-पद पर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो। सोलहवें अध्यायके अंतमें यही कहा है। काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरकके तीन बड़े द्वार हैं। इनमें बहुत बड़ा आवागमन होता है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरकका रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं। बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते हैं; परंतु सत्यकी राह संकरी है।

22. तो अब इन काम, क्रोध, लोभसे बचें कैसे ? संयम-मार्गका अंगीकार करके। शास्त्रीय संयमका पल्ला पकड़ लेना चाहिए। संतोंका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतोंको हुए उन्हींसे शास्त्र बनता है। इस संयम-सिद्धांतका हाथ पकड़ो। व्यर्थकी शंका-कुशंका मत रखो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गये, तो फिर संसारका क्या हाल होगा ? वह तो चलना ही चाहिए। क्या थोड़े-से भी काम-क्रोध नहीं रहने चाहिए ? भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर हैं। आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं अधिक हैं। फिर क्यों व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते हैं ? काम, क्रोध, लोभ आपकी इच्छासे रत्तीभर अधिक ही हैं। यह चिंता न करें कि क़ाम मर जायेगा, तो संतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा करें, एक दिन ऐसा आनेवाला है, जब पृथ्वी परसे मनुष्यका नाम सर्वथा मिट जायेगा। ऐसा वैज्ञानिकोंका कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यंत उष्ण थी। तब उस पर जीवधारी नहीं रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। एक समय ऐसा आयेगा कि पृथ्वी अत्यंत ठंडी हो जायेगी और सारी जीव-सृष्टिका लय हो जायेगा। इस बातमें लाखों वर्ष लग जायेंगे। आप कितनी ही संतान-वृद्धि क्यों न करें, अंतमें प्रलय निश्चित है। परमेश्वर जो अवतार लेता

है, सो धर्म-संरक्षणके लिए, संख्या-संरक्षणके लिए नहीं। जब तक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पापभीरु और सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तब तक कोई चिंता नहीं। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोगोंका जीवित रहना, न रहना बराबर है।

23. इन सब बातों पर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिए, संयमसे चलिए। मनमानी न कीजिए। 'लोक-संग्रह' का अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें, वैसा किया जाये। मनुष्योंका संघ बढ़ाते जाना, संपत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना— इसे सुधार नहीं कहते। विकास संख्या पर अवलंबित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा, तो लोग एक-दूसरेका खून करने लग जायेंगे। पहले पशु- पक्षियोंको खाकर मनुष्य मत्त बनेगा; फिर अपने बाल-बच्चोंको खाने लगेगा। काम-क्रोधमें सार है, यह बात यदि मान लें, तो फिर अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड़ खायेगा, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। लोक-संग्रहका अर्थ है, सुंदर और विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोंको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जानेके कारण यदि पृथ्वीसे मनुष्यका लोप हो जायेगा, तो वह मंगल पर उत्पन्न हो जायेगा। आप चिंता न करें। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिंता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नहीं है। सारी सृष्टि और मानव-जातिकी चिंता मत करो। तुम अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाओ। काम-क्रोधको पल्ला झाड़कर फेंक दो। **आपुला तूं गळा घेई उगवूनि**— पहले अपना गला तो छुड़ा लो! तुम्हारी गर्दन जो फंसी है, पहले उसे बचाओ। इतना कर लो, तो भी काफी है।

24. संसार-समुद्रसे दूर किनारे खड़े रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनंद है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिसकी आंख-नाकमें पानी भर रहा है, उसे समुद्रका क्या आनंद है ? संत समुद्र-तट पर खड़े रहकर आनंद लूटते हैं। संसारसे अलिप्त रहनेकी इस संत-वृत्तिका जीवनमें संचार हुए बिना आनंद नहीं। अतः कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है—"संत ऊँचे पर्वतके शिखरपर खड़े रहकर नीचे संसारकी ओर देखते हैं, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़कर देखिए, तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखायी देगा। फिर संसारमें मन ही नहीं लगेगा।

सारांश, भगवानने इस अध्यायमें आग्रहपूर्वक कहा है कि आसुरी संपत्तिको हटाकर दैवी संपत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार 5-6-32

सत्रहवां अध्याय

परिशिष्ट-2

साधकका कार्यक्रम

94. सुव्यवस्थित व्यवहारसे वृत्ति मुक्त रहती है

1. प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे अंत तक पहुंचते आ रहे हैं। पंद्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके संपूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्यायमें एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमें और उसके मनके प्रतिबिंबस्वरूप समाजमें दो वृत्तियों, दो संस्कृतियों अथवा दो संपत्तियोंका झगड़ा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी संपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा सोलहवें अध्यायके परिशिष्टसे मिली है। आज सत्रहवें अध्यायमें हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्यक्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना दे रही है। आजके अध्यायमें हमें नित्य क्रिया पर विचार करना है।

2. अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधार पर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामें और एक निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छंदतासे बहती है, परंतु उसका प्रवाह बंधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायेगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आंखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोंका आचार्य है। भगवानने पहले-पहल कर्मयोग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्यसे मनुको, अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको, वह

प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है— इसीमें उसकी स्वतंत्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है, तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमनेके लिए हम रोज नये-नये रास्ते निकालते रहेंगे, तो सारा ध्यान उन रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। सारांश यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बांध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नहीं, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

3. इसलिए भगवान इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम तीन संस्थाएं साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभांति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके; इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बताती है। वे तीन संस्थाएं कौन-सी हैं ? पहली संस्था है— हमारे आसपास लिपटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है— हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड— यह अपार सृष्टि, जिसके हम एक अंश हैं। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओंका उपयोग करते हैं— इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन आती है, उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपना जीवन सफल बनायें। इन संस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्त्तव्य हमें निरहंकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्त्तव्योंको पूरा तो करना है, परंतु उसकी पूर्तिकी योजना क्या हो ? यज्ञ, दान और तप— इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनमें समाविष्ट करें, तो ये तीनों संस्थाएं सफल हो जायेंगी तथा हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहेगा।

95. उसके लिए त्रिविध क्रियायोग

4. इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि 'यज्ञ' का अर्थ क्या है। सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। सौ आदमी यदि एक जगह रहते हैं, तो दूसरे दिन वहांकी सारी सृष्टि दूषित हुई दिखायी देती है। वहांकी हवा

हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते हैं। अन्न खाते हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है।

यज्ञका उद्देश्य क्या है ? सृष्टिकी जो हानि हुई, उसे पूरा करना। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीन जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है— 'पृथ्वीको उसका कस वापस लौटाओ, जमीनमें हल चलाओ, उसमें सूर्यकी रोशनी पैठने दो। उसमें खाद डालो।' छीजनकी पूर्ति करना, यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमें लायी हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएंका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएंके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहांका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड़ दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहां कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए— यह तीसरी बात भी यज्ञके अंतर्गत है। हमने कपड़ा पहना, तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना, यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षतिकी है, उसे पूरा करनेकी कर्त्तव्य-भावनासे वह होना चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं। जन्मतः ही अपने सिर पर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवासे हमें अपना ऋण चुकाना है। हम पद-पद पर सृष्टिका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए और नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करना होता है।

5. दूसरी संस्था है, हमारा मनुष्य-समाज। मां-बाप, गुरु, मित्र, ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दानकी व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसारमें आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है। इसलिए

मुझे समाजकी सेवा करनी चाहिए। 'परोपकार' कहते हैं, दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परंतु यहां तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाये, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढ़नेमें सहायता करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरी करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है, और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

6. इसके अलावा एक तीसरी संस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय, सबसे काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीररूपी संस्थामें जो विकार, जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनकी शुद्धिके लिए 'तप' बताया गया है।

7. इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर— इन तीनों संस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी प्रकार व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएं निर्माण करते हैं, परंतु ये तीन संस्थाएं हमारी बनायी हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही हमें मिल गयी हैं। ये संस्थाएं कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीन संस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप— इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें, तो जो कुछ शक्ति हमारे अंदर है, वह सारी इसमें लग जायेगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति शेष ही नहीं बचेगी। इन तीनों संस्थाओं— सृष्टि, समाज और शरीर— को सुंदर रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभो, ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया—तूने मुझे जैसी चादर दी थी, उसे वैसी-की-वैसी छोड़कर जा रहा हूं, तू इसे अच्छी तरह जांच ले" तो वह कितनी बड़ी सफलता है। परंतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान और तपका त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें लाना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपमें हमने भेद माना है, परंतु सच पूछा जाये तो इनमें भेद नहीं है, क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर— ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाएं हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोंको मिलाकर एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसीलिए हमें जो

उत्पादक श्रम करना है, जो दान देना है, जो तप करना है, उन सबको व्यापक अर्थमें 'यज्ञ' ही कह सकते हैं। गीताने चौथे अध्यायमें 'द्रव्य-यज्ञ', 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ बताये हैं। गीताने यज्ञका अर्थ विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञरूप ही होंगे। आवश्यकता है उस सेवाको निरपेक्ष रखने की। उससे फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती, क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। ऋण तो पहले ही सिर पर चला आ रहा है। जो लिया है, उसे वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्राप्त होती है। दानसे समाजमें साम्यावस्था आती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी और दूषित भाव नष्ट हो जायेगा।

8. यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ 'भोग' भी ग्रहण करना पड़ेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अंग है। इस भोगको गीता 'आहार' कहती है। इस शरीररूपी यंत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नहीं है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अंग अवश्य है। इसलिए हम कहा करते हैं-**उदरभरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म**— 'यह उदर-भरण नहीं, इसे यज्ञ-कर्म जानो।'

बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिर पर चढ़ाना, यह पूजा है, परंतु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमें जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञ पूरा करनेके लिए जो-जो क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा, जब हम उसे आहार देंगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोंको 'तदर्थीय-कर्म'— 'यज्ञार्थ-कर्म'— कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खड़ा रहे, इसलिए इस शरीरको जो आहुति दूंगा, वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए किया गया आहार पवित्र है।

9. इन सब बातोंके मूलमें फिर श्रद्धा चाहिए। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमें होना चाहिए। यह बड़े महत्त्वकी बात है। ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना सेवामयता नहीं आ सकती। ईश्वरार्पणता इस प्रधान वस्तुको भुला देनेसे काम नहीं चलेगा।

96. साधनाका सात्त्विकीकरण

10. परंतु हम अपनी सब क्रियाएं ईश्वरको कब अर्पण कर सकेंगे ? तभी, जबकि वे सात्त्विक होंगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप, सब सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओंको सात्त्विक कैसे बनाना, इसका तत्त्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है। इस अध्यायमें गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

11. सात्त्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है कि बाहरसे यज्ञ, दान और तपरूप जो मेरी 'विश्व-सेवा' चल रही है, उसीको भीतरसे 'आध्यात्मिक साधना' का नाम दिया जा सके। सृष्टिकी सेवा और साधनाके भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए। सेवा और साधना, ये दो भिन्न बातें हैं ही नहीं। दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म! इस प्रकार जो कर्म किया जाये, उसे भी अंतमें ईश्वरार्पण करना है। सेवा + साधना + ईश्वरार्पणता— यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

12. यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है— निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए। यज्ञमें यदि सकामता होगी, तो वह राजस यज्ञ हो जायेगा और यदि निष्फलता होगी, तो वह तामस यज्ञ हो जायेगा।

सूत कातना यज्ञ है, परंतु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उंड़ेली, और हमें चित्तकी एकाग्रता नहीं सधी, तो वह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायेगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे हैं, उस समय अंदरसे मनका मेल नहीं है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायेगी। विधिहीन कर्म जड़ हो जाते हैं। विधिहीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता। उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी। यज्ञमें सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। कर्ममें यदि मन न हो, आत्मा न हो, तो वह कर्म बोझ-सा हो जायेगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहां ? यदि बाहरका काम बिगड़ा, तो यह निश्चित समझो कि अंदर मनका योग नहीं था। अतः कर्ममें अपनी आत्मा उंड़ेलो। आंतरिक सहयोग रखो। सृष्टि संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट

फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोंमें फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आंतरिक मेलकी विधियुक्तता आवश्यक है।

13. इस प्रकार जब हमारे अंदर निष्कामता आ जायेगी और विधिपूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है ? बाहरी कामकी जांच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुंदर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नहीं। भला, कर्ममें सुंदरता कब आती है ? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्म पर ईश्वर अपनी पसंदगी की, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठ पर प्रेमका हाथ फिराता है, तो वहां सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यका अर्थ है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरीय प्रसाद। शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुंदर मूर्ति मेरे हाथोंसे नहीं बनी। मूर्तिका आकार गढ़ते-गढ़ते अंतिम क्षणमें न जाने कहांसे उसमें अपने-आप सौंदर्य आ टपकता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है ? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य, माधुर्य है, वह यही कि अपने अंतःकरणका सारा सौंदर्य उसमें उंड़ेल दिया जाता है। मूर्ति यानी हमारे चित्तकी प्रतिमा ! हमारे समस्त कर्म यानी हमारे मनकी मूर्तियां ही हैं। अगर मन सुंदर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुंदर होगी। बाहरके कर्मों की शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जांच लेनी चाहिए।

14. एक बात और। वह यह कि इन सब कर्मोंमें मंत्र भी चाहिए। मंत्रहीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रखो कि मैं इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूं। यदि यह मंत्र हृदयमें न हो और घंटों क्रिया करें, तो भी वह सब व्यर्थ जायेगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नहीं होगा। कपासकी पूनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्ररूपमें प्रकट हो रहा है— ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर फिर उस क्रियाकी ओर देखो। वह क्रिया अत्यंत सात्त्विक और सुंदर बन जायेगी। वह क्रिया पूजा बन जायेगी, यज्ञरूप सेवा हो जायेगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बंध जायेंगे। बालकृष्णके छोटे-से मुंहमें यशोदा मांको सारा विश्व दिखलायी दिया।

उस मंत्रमय सूत्रके धागोंमें तुम्हें विशाल विश्व दिखायी देने लगेगा।

97. आहार-शुद्धि

15. ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार, वैसा ही मन! आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन-सा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नहीं है, परंतु हम जो आहार लेते हैं, वह उचित मात्रामें है या नहीं, यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है।

16. हम जो कुछ खाते हैं, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यों हैं ? इसीलिए कि उत्तम सेवा हो। आहार भी यज्ञांग ही है। सेवारूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहार चाहिए, इस भावनासे आहारकी ओर देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं। हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए पर्याप्त तपस्याकी है। आहार-शुद्धिके लिए भारतमें विशाल प्रयत्न, प्रयोग हुए हैं। उन प्रयोगोंमें हजारों वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या लगी, यह कहा नहीं जा सकता। इस भूमंडल पर भारत ही एक ऐसा देश है, जहां कितनी ही पूरी-की-पूरी जातियां मांसाशन-मुक्त हैं। जो जातियां मांसाहारी हैं, उनके भी भोजनमें मांस नित्य और मुख्य पदार्थ नहीं है और जो मांस खाते हैं, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और उसीके लिए वह बंद भी हुआ। श्रीकृष्ण भगवानने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ायी। श्रीकृष्णने आसाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं, परंतु भारतकी जनता किस कृष्णके पीछे पागल हुई थी ? भारतीय जनताको तो 'गोपालकृष्ण' 'गोपालकृष्ण' यही नाम प्रिय है। वह कृष्ण, जिसके पास गायें बैठी हुई हैं, जिसके अधरों पर मुरली धरी है, ऐसा गायोंकी सेवा करनेवाला, गोपालकृष्ण ही आबाल-वृद्धोंका परिचित है। गो-रक्षणका बड़ा उपयोग मांसाहार बंद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा बढ़ी और मांसाहार कम हुआ।

17. फिर भी संपूर्ण आहार-शुद्धि हो गयी हो, सो बात नहीं। हमें अब उसे

आगे बढ़ाना है। बंगाली लोग मछली खाते हैं, यह देखकर कितने ही लोगोंको आश्चर्य होता है। किंतु इसके लिए उन्हें दोष देना ठीक नहीं होगा। बंगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरको पूरा पोषण नहीं मिल सकता। इसके लिए प्रयोग करने पड़ेंगे। फिर लोगोंमें इस बातका विचार शुरू होगा कि मछली न खाकर कौन-सी वनस्पति खायें, जिसमें मछलीके बराबर ही पुष्टि मिल जाये। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होंगे और फिर ऐसे प्रयोग होंगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जाते हैं। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कहीं जीवित रहने योग्य 98° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते हैं और जब वे बड़ी श्रद्धापूर्वक परिस्थितियोंके बंधन तोड़कर बिना पंखोंके अपने ध्येयाकाशमें उड़ने लगते हैं, तब कहीं संसारोपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें संचार होता है। मांसाहार बंद करनेके लिए ऋषियोंको कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पड़े होंगे, इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमें आता है।

18. सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनंत त्याग करके हमारे पूर्वजोंने जो कमाई की है, उसे गंवाओ मत! भारतीय संस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत! हमें जैसे-तैसे जीवित नहीं रहना है। जिसे किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बड़ा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या, जैसे पशु, वैसे ही हम ? पशुमें और हममें अंतर है। उस अंतरको बढ़ाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। हमारे राष्ट्रने मांसाहार-त्यागका बहुत बड़ा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। कम-से-कम जिस मंजिल तक हम पहुंच चुके हैं, उससे पीछे तो मत हटो!

यह सूचना देनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोंको मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियोंका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ रहा है। मेरा विश्वास है कि अंतमें इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड़ श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गयी, तो कुछ हानि नहीं। जो अच्छा होगा, वह टिकेगा और

बुरा जलकर राख हो जायेगा। लेकिन अंध-श्रद्धा जाने पर उसके स्थान पर अंध-अश्रद्धा नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही 'अंध' विशेषणका ठेका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारेमें आज़ फिरसे विचार शुरू हो गया है। जो हो, कोई नवीन विचार सामने आता है, तो मुझे बड़ा आनंद होता है। लगता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आंखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे, तो गिर पड़नेकी आशंका रहेगी। अतः जब तक पूरे-पूरे न जग जायें, अच्छी तरह आंख खोलकर देखने न लगें, तब तक हाथ-पैरको मर्यादामें ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिए, आड़ा-तिरछा, उलटा-सीधा, चारों ओरसे खूब सोचिए। धर्म पर विचारकी कैंची चलाइए। इस विचाररूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाये, समझो कि वह तीन कौड़ीका ही था। इस तरह जो टुकड़े कट-छट जायें, उन्हें जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि उससे उलटे तुम्हारी कैंची ही टूट जाये, वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं। अतः विचार तो करो, परंतु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे, तो गिरोगे। विचार जोरोंसे चले, फिर भी कुछ देर आचारको संभाले रखो। अपनी कृति पर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गंवा बैठो।

98. अविरोधी जीवनकी गीताकी योजना

19. आहार-शुद्धिसे चित्त-शुद्धि रहेगी। शरीरको भी बल मिलेगा। समाज-सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमें संतोष रहेगा और समाजमें भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ, दान, तप ये क्रियाएं विधि और मंत्रसहित होती रहती हैं, उसमें विरोध दिखायी नहीं देगा। दो दर्पण यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हों, तो जैसे इसमेंका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, उसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिंब-प्रतिबिंब-न्यायसे परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका है और जो समाजका है, वही मेरा। इन दोनों संतोषोंकी हम जांच कर सकते हैं और हम देखेंगे कि दोनों एकरूप हैं। सर्वत्र अद्वैतका अनुभव होगा।

द्वैत और द्रोह अस्त हो जायेंगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजनाके द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनायें, तो कितना अच्छा हो!

20. परंतु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध कैसे दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है ? व्यक्ति गौण है या समाज ? इनमें श्रेष्ठ कौन है ? व्यक्तिवाद-समर्थक कुछ लोग समाजको जड़ समझते हैं। सेनापतिके सामने कोई सिपाही आता है, तो सेनापति उससे बोलते समय सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा, परंतु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो, लकड़ीका एक लट्ठ ही ! उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है और समाज जड़, ऐसा अनुभव यहां भी हो रहा है। देखो, मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी हैं, परंतु उन्हें रुचे या न रुचे, मैं तो बोलता ही जा रहा हूं। मुझे जो विचार सूझता है, वही कहता हूं। मानो आप जड़ ही हैं। परंतु मेरे सामने कोई व्यक्ति आयेगा, तो मुझे उसकी बात सुननी पड़ेगी और उसे विचारपूर्वक उत्तर देना पड़ेगा, परंतु यहां तो मैंने आपको घंटे-घंटेभर यों ही बैठा रखा है।

'समाज जड़ है और व्यक्ति चैतन्य'— ऐसा कहकर व्यक्ति-चैतन्यवादका कोई प्रतिपादन करते हैं तो कोई समुदायको महत्त्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये, हाथ टूट गया, आंखें चली गयीं और दांत गिर गये। इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया, परंतु मैं फिर भी जीवित रहता हूं, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एक अवयवके नाशसे सर्वनाश नहीं होता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्परविरोधी विचारधाराएं हैं। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चश्मा उसी रंगकी सृष्टि!

21. कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, तो कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना फैल गयी है। परंतु क्या जीवन कलहके लिए है ? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते ? कलह तो मरनेके लिए है।

तभी तो हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमें अंतर है, उसकी बलिहारी है! जो वस्तु वास्तवमें है ही नहीं, उसके अस्तित्वका आभास देनेकी शक्ति जिसकी बुद्धिमें थी, उसकी तारीफ करनेको जी चाहता है। जो भेद नहीं है, वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको सिखाया, इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बांधना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नहीं है। इन सबका कारण है, आज यज्ञमय जीवनका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परंतु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाये और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे, तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहर पर उस कमरेके भाग अवलंबित रहते हैं। वे स्थायी, पक्के नहीं हैं। गीता इन झगड़ोंसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतःशुद्धिकी मर्यादा रखो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें कोई बाधा नहीं होगी। इस बाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमका पालन करनेवाला यदि एक भी व्यक्ति मिल जाये, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र संपन्न हो जायेगा। राष्ट्रका अर्थ है— राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचारसंपन्न व्यक्ति नहीं हैं, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे ? भारत क्या है ? भारत यानी रवींद्रनाथ, भारत यानी गांधी या इसी तरहके पांच-दस नाम। बाहरका संसार भारतकी कल्पना इन्हीं पांच-दस व्यक्तियों परसे करता है। प्राचीन कालके दो-चार, मध्यकालके चार-पांच और आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिए और उनमें हिमालय, गंगा आदिको मिला दीजिए। बस, हो गया भारत। यही है भारतकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोंका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन! झगड़ा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नहीं है। दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियों परसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध

नहीं है। विरोध हो भी कैसे सकता है ? व्यक्ति-व्यक्तिमें भी विरोध नहीं होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक संपन्न हो जाये, तो इससे बिगड़ेगा क्या ? हां, कोई भी विपन्न अवस्थामें न हो और संपत्तिवालोंकी संपत्ति समाजके काम आती रहे, तो बस। मेरी दाहिनी जेबमें पैसे हैं तो क्या, बायी जेबमें हैं तो क्या ? दोनों जेबें आखिर तो मेरी ही हैं! कोई व्यक्ति संपन्न होता है, तो उससे मैं संपन्न होता हूं, राष्ट्र संपन्न होता है। ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परंतु हम भेद खड़े करते हैं। धड़ और सिर अलग-अलग हो जायेंगे, तो दोनों मर जायेंगे। अतः व्यक्ति और समाजमें भेद मत करो। गीता सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थको किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामें और बाहरकी अनंत हवामें कोई विरोध नहीं है। यदि मैं इनमें विरोधकी कल्पना करके कमरा बंद कर लूंगा, तो दम घुटकर मर जाऊंगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो, तो वह अनंत हवा भीतर आ जायेगी। जिस क्षण मैं अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरोंसे अलग करता हूं, उसी क्षण मैं अनंत संपत्तिसे वंचित हो जाता हूं। मेरा वह छोटा-सा घर जलता है, गिरता है, तो मैं ऐसा समझकर कि मेरा सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूं। परंतु ऐसा क्यों करना चाहिए ? क्यों रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो संकुचित कल्पना करें और फिर रोयें! ये पांच सौ रुपये मेरे हैं, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार संपत्तिसे मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे हैं, ऐसा समझा कि संसारके असंख्य भाई मुझसे दूर हो गये— इसका हमें ध्यान नहीं रहता। मनुष्य अपनेको कितना संकुचित बना लेता है! वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल-सुंदर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें उत्तम सहयोग हो।

22. जीभ और पेटमें क्या विरोध है ? पेटको जितना अन्न चाहिए, उतना ही जीभको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि जीभको देना बंद कर देना चाहिए। पेट एक संस्था है, तो जीभ दूसरी संस्था। मैं इन संस्थाओंका सम्राट् हूं। इन सब संस्थाओंमें अद्वैत ही है। कहांसे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन संस्थाओंमें वास्तविक विरोध नहीं है, बल्कि सहयोग है, उसी

प्रकार समाजमें भी है। समाजमें इस सहयोगको बढ़ानेके लिए ही गीता चित्तशुद्धिपूर्वक यज्ञ-दान-तपकी क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज, दोनोंका कल्याण होगा।

जिसका जीवन यज्ञमय है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि मांका प्रेम मुझ पर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय और अपना लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है। **ऐसा पुरुष तो पहावा। जनांस वाटे हा असावा॥** 'ऐसे पुरुषका दर्शन करें, लोग उसे अनन्यरूपसे चाहते हैं'— ऐसा समर्थ रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी युक्ति गीताने बतायी है।

99. समर्पणका मंत्र

23. गीता यह भी कहती है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जाने पर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह सरलतासे कह तो देते हैं कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाये, परंतु ऐसा करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोंके प्रयत्नके बाद वह थोड़ा-बहुत सध सकता है। अलावा, भले ही सारे कर्म सेवामय अक्षरशः सेवामय हो जायें, तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि वे पूजामय हो ही गये। इसलिए, 'ॐ तत्सत्' इस मंत्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहों आना सेवामय होना कठिन है, क्योंकि परार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परार्थ संभव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जिसमें मेरा लेशमात्र भी स्वार्थ न हो। इसलिए प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ सेवा हाथोंसे हो, ऐसी इच्छा रखनी चाहिए। यदि यह चाहते हों कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो, तो सारी क्रियाएं ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है— **नामामृत गोडी वैष्णवां लाधली। योगियां साधली जीवनकळा॥** 'वैष्णवोंको नामामृतका माधुर्य मिला है। योगियोंको जीवन-कला सधी है।' नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नामका आंतरिक घोष और बाह्य जीवन-कला, दोनोंका मेल है। योगी और वैष्णव एक

ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देने पर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एकरूप हो जाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं, उन्हें एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मा से। ॐतत्सत् मंत्रमें यह भाव सूचित किया जाता है।

24. परमात्माके अनंत नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोंका 'विष्णुसहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें, वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमें उसे हम सृष्टिमें देखें और तदनुरूप अपना जीवन बनायें। परमेश्वरका जो नाम मनको भाये, उसीको हम सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार हम बनें, इसको मैं 'त्रिपदा गायत्री' कहता हूं। उदाहरणके लिए ईश्वरका 'दयामय' नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चलें कि वह 'रहीम' है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आंखें खोलकर देखें। भगवानने प्रत्येक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देखें और अपना जीवन भी दयामय बनायें। भगवद्गीताके कालमें भगवानका जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने सुझाया है। वह है ॐ तत्सत्।

25. 'ॐ' का अर्थ है 'हां'। परमात्मा है, इस बीसवीं शताब्दीमें भी परमात्मा है। **स एव अद्य स उ श्वः**। वही आज है, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है और कमर कसकर मैं भी साधना करनेके लिए तैयार हूं। मैं साधक हूं, वह भगवान है और यह सृष्टि पूजा-द्रव्य, पूजा-साधन है। जब ऐसी भावनासे मेरा हृदय भर जायेगा, तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' मेरे गले उतरा। वह है, मैं हूं और मेरी साधना भी है— ऐसा यह ॐकार-भाव मनमें पैठ जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिए, वह किरणों सहित है। वह किरणोंको दूर रखकर कभी रह ही नहीं सकता। वह किरणोंको भूलता नहीं। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यों न देखे, साधना हमारे पास दिखायी देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायेगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने पचा लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मंगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवानके मांगल्यका सृष्टिमें अनुभव करो। देखो, वह पानीकी सतह! पानीमेंसे एक घड़ा भर लो। उससे जो गड्ढा पड़ेगा, वह क्षणभरमें ही भर जायेगा। यह कितना मांगल्य है ? यह कितनी प्रीति है ? नदी गड्ढोंको सहन नहीं करती! गड्ढोंको भरनेके लिए दौड़ती है। **नदी वेगेन शुद्धयति**।—सृष्टिरूपी नदी वेगसे शुद्ध हो रही है। सारी सृष्टि शुभ और मंगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस 'सत्' नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएं निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोंमेंसे छाना जाता था, उसी तरह अपने कर्मों और साधनोंको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। तत् का अर्थ है 'वह'—कुछ तो भी भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय होते ही कमल खिलने लगते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं और अंधकार नष्ट हो जाता है। परंतु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामोंसे वह बिलकुल अलग-सा रहता है। हम अपने कर्मोंमें अनासक्ति रखें, अलिप्तता लायें, तब माना जायेगा कि हमारे जीवनमें 'तत्' नाम प्रविष्ट हुआ।

26. इस प्रकार गीताने यह **ॐ तत्सत्** वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओंको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पीछे नौवें अध्यायमें सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। **यत्करोषि यदश्नासि** इस श्लोकमें यही कहा गया है। इसी बातका इस सत्रहवें अध्यायमें विवरण किया गया है। परमेश्वरको अर्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए, तभी वह परमेश्वरार्पणकी जा सकेगी—यह बात यहां विशेषरूपमें बतायी गयी है।

100. पापापहारि हरिनाम

27. यह सब ठीक है, परंतु यहां एक प्रश्न उठता है कि यह **ॐ तत्सत्** नाम पवित्र पुरुषको ही पच सकता है, तब पापी पुरुष क्या करे ? पापियोंके मुंहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नहीं ? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति

रहती है। वह पापसे निष्पापताकी ओर ले जा सकता है। जीवनकी धीरे-धीरे शुद्धि करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी दुर्बलताकी घड़ीमें हाथ पकड़ेगा।

28. यदि कोई मुझसे कहे कि 'एक ओर पुण्यमय किंतु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय, किंतु नम्र जीवन—इनमेंसे किसी एकको पसंद करो।' तो यदि मैं मुंहसे न भी बोल सकूं, फिर भी अंतःकरणसे कहूंगा कि, 'जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो!' मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती है, तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, उसीको ले। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हूं। परंतु पाप उतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहंकार पाप है। **बहु भितों जाणपणा। आड न यो नारायणा**— बहुत डरता हूं सुजानपन को, नारायणके आड़े न आ जाये!— ऐसा तुकारामने कहा है। वह बड़प्पन नहीं चाहिए। उसकी अपेक्षा तो पापी, दुःखी होना ही अच्छा है। **जाणतें लेंकरूं। माता लागे दूर धरूं**— 'सयाने बच्चेको मां भी दूर रखती हैं।' परंतु अबोध बालकको मां अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं स्वावलंबी पुण्यवान नहीं होना चाहता। परमेश्वरावलंबी पापी होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने जैसी है। हम पापको टालनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं टल पाये, तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा है। पुकार करो "मैं पापी हूं इसलिए तेरे द्वार आया हूं।" पुण्यवानको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योंकि वह पुण्यवान है। पापीको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योंकि वह पापी है।

रविवार, 12-6-32

अठारहवां अध्याय
उपसंहार
फलत्यागकी पूर्णता— ईश्वर-प्रसाद
101. अर्जुनका अंतिम प्रश्न

1. मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्याय तक आ पहुंचे हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी संकल्पको पूर्णता तक ले जाना परमेश्वरकी इच्छा पर निर्भर है। इसमें भी जेलमें तो कदम-कदम पर अनिश्चितताका अनुभव आता है। यहां कोई काम शुरू करने पर फिर यहीं उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। आरंभ करते समय ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि हमारी यह गीता यहां पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर-इच्छासे हम समाप्ति तक आ पहुंचे हैं।

2. चौदहवें अध्यायमें जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये गये। इन तीनों मेंसे राजस और तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्यायमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गयी है। यज्ञ, दान और तप या एक ही शब्दमें कहें, तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म हैं, उन्हें सात्त्विक और यज्ञरूप बनाकर ही ग्रहण करें। केवल उन्हीं कर्मोंको अंगीकार करें, जो यज्ञरूप और सात्त्विक हैं, शेष कर्मोंका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा है कि 'ॐ तत्सत्' मंत्रको क्यों स्मरण रखना चाहिए। 'ॐ' का अर्थ है सातत्य। 'तत्' का अर्थ है अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है सात्त्विकता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोंसे ध्यानमें आता है कि कुछ कर्म तो हमें करने हैं और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षा पर हम दृष्टि डालें, तो स्थान-स्थान पर यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग मत करो। गीता कर्म-फलके त्यागकी बात कहती है। गीतामें सर्वत्र यही शिक्षा दी गयी है कि कर्म तो सतत करो, परंतु फलका त्याग करते रहो; लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ

कर्म किये जायें और कुछका त्याग किया जाये। अतः अंततः अठारहवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने प्रश्न किया— "एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्यागपूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं, इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाये ?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न है। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'संन्यास' कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फलत्यागमें कर्मका फलतः त्याग करना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फलत्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है ? क्या फल-त्यागकी कसौटीमें संन्यासका कोई उपयोग है ? संन्यासकी मर्यादा कहां तक है ? संन्यास और फल-त्याग, इन दोनोंकी मर्यादा कहां तक और कितनी है ? अर्जुनका यही प्रश्न है।

102. फल-त्याग सार्वभौम कसौटी

3. उत्तरमें भगवानने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व सर्वत्र लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलोंका त्याग तथा राजस और तामस कर्मोंका त्याग, इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें, तो वे कर्म स्वतः ही गिर पड़ते हैं। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

4. इसपर जरा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है, उन्हें फल-त्यागपूर्वक करो—ऐसा कहते ही वे ढह जाते हैं। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तांत्रिक और यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन-से कर्म किये जायें और कौन-से नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'गीता केवल यही बताती है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो, पर यह नहीं बताती कि कौन-से कर्म करो।' ऐसा भास तो होता है, परंतु वस्तुतः ऐसा है ही नहीं, क्योंकि, 'फल-त्यागपूर्वक कर्म करो।' इतना

कहनेसे ही पता चल जाता है कि कौन-से कर्म करें और कौन-से नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चौर्य कर्म फल-त्यागपूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही ये कर्म गिर पड़ते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही चीजें उजली दिखायी देने लगती हैं, पर अंधेरा भी क्या उजला दिखायी देता है ? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध और काम्य कर्मोंकी है। हमें सब कर्म फल-त्यागकी कसौटी पर कस लेने चाहिए। पहले यह देख लेना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूं, वह अनासक्तिपूर्वक फलकी लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या ? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो त्याग ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मोंका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उस पर भी चलाओ। काम्य कर्मोंका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बातें हमने देखीं। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने हैं, वे फल-त्यागपूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस और तामस कर्म, निषिद्ध और काम्य कर्म, फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा अहंकार नहीं होने देना चाहिए।

5. राजस और तामस कर्म त्याज्य क्यों हैं ? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होनेसे उन कर्मोंका कर्ताके चित्त पर संस्कार पड़ता है, परंतु अधिक विचार करने पर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते हैं। जितने भी कर्म हैं, उन सबमें कुछ-न-कुछ दोष हैं ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है, लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्मरूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमें कितने ही जंतु मरते हैं। कुएंके पास कीचड़ न होने देनेके लिए वहां पत्थर बैठानेमें भी कितने ही जीव-जंतु मरते हैं। सबेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असंख्य जंतु नष्ट हो जाते हैं। जिसे 'शुद्धीकरण' कहते हैं, वह भी मारण-क्रिया ही हो जाती है। सारांश, जब

सात्त्विक स्वधर्मरूप कर्म भी सदोष हो जाता है, तब क्या करें ?

6. मैं पहले ही कह चुका हूं कि सब गुणोंका विकास होना तो अभी बाकी है। हमें ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा— इनके बिंदुमात्रका ही अभी अनुभव हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नहीं है। संसार अनुभव लेकर आगे बढ़ता जाता है। मध्ययुगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति खेती न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है, पर कहते थे कि अन्न बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे हित नहीं हो सकता। यदि मनुष्य इस तरह कर्म-संकोच करता चला जाये, तो अंतमें आत्मनाश ही होगा। मनुष्य कर्मसे छूटनेका ज्यों-ज्यों विचार करेगा, त्यों-त्यों कर्मका अधिक विस्तार होता जायेगा। आपके इस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती नहीं करनी पड़ेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार नहीं होंगे ? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजी हुई कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। अब कर्मोंका बहिष्कार करना— यह कर्म नहीं, वह कर्म नहीं, कुछ मत करो, इस प्रकार देखनेवाली दृष्टि में, कहना होगा कि सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड़ नहीं मरता, वह तो उल्टा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-संकोच ही है।

103. क्रियासे छूटनेकी सच्ची रीति

7. अब यह प्रश्न होता है कि यदि सब क्रियाओंमें दोष हैं, तो फिर सब क्रियाओंको छोड़ ही क्यों न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। सब कर्मोंका त्याग करनेकी कल्पना बड़ी सुंदर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोड़ें कैसे ? राजस और तामस कर्मोंको छोड़नेकी जो रीति है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगी ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म हैं, उन्हें कैसे टालें ? मजा तो यह है कि इंद्राय तक्षकाय स्वाहा— की तरह जब मनुष्य संसारमें करने लगता है तब अमर होनेके कारण इंद्र तो मरता ही नहीं, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमें पुण्य है और थोड़ा दोष है। परंतु थोड़ा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके

साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे, तो मजबूत होनेके कारण पुण्य-क्रिया तो नष्ट नहीं ही होगी, उलटे दोष-क्रिया अवश्य ही बढ़ती चली जायेगी। ऐसे मिश्रित, विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इंद्र तो मरता ही नहीं, पर मर सकनेवाला दोषरूप तक्षक भी नहीं मरता। इसलिए उसके त्यागकी रीति कौन-सी ? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। सांप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया, तो सैकड़ों जंतु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारों मनुष्य मर जायेंगे। इसलिए त्याग विवेकयुक्त होना चाहिए।

8. गोरखनाथसे मच्छींद्रनाथने कहा— "इस लड़केको धो लाओ!" गोरखनाथने लड़केके पैर पकड़कर उसे शिला पर अच्छी तरह पछाड़ा और बाड़ पर सुखाने डाल दिया। मच्छींद्रनाथने पूछा— "लड़केको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया— "हां, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है!" लड़केको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपड़े और मनुष्य धोनेका ढंग एक-सा नहीं है। इन दोनों ढंगोंमें बड़ा अंतर है। इसी तरह राजस-तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बड़ा अंतर है। सात्त्विक कर्म छोड़नेकी रीति दूसरी है।

विवेकहीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायेगा। तुकारामने कहा: त्यागें भोग माझ्या येतील अंतरा। मग मी दातारा काय करूं— 'त्यागसे जो भीतर भोग उगे, तब हे दाता! मैं क्या करूं ?' छोटा त्याग करने जाते हैं, तो बड़ा भोग आकर छाती पर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्यागकी पूर्तिके लिए बड़े-बड़े इंद्रभवन खड़े करते हैं। इससे तो वह झोपड़ी ही अच्छी थी। वही पर्याप्त थी। लंगोटी लगाकर आसपास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बंडी ही अच्छी। इसीलिए भगवानने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी पद्धति ही अलग बतायी है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं, लेकिन उनके फलोंको तोड़ फेंकना है। कुछ कर्म तो समूल त्याज्य हैं और कुछके सिर्फ़ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीर पर कोई ऐसा-वैसा दाग पड़ जाये, तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है, पर चमड़ीका रंग ही काला है, तो उसपर पुताई करनेसे क्या लाभ ? यह काला रंग ज्यों-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ

देखते ही क्यों हो ? उसे अमंगल मत कहो।

9. एक आदमी था। उसे अपना घर अमंगल प्रतीत होने लगा, तो वह किसी गांवमें चला गया। वहां उसे गंदगी दिखायी दी, तो जंगलमें चला गया। जंगलमें एक आमके पेड़के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिर पर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है'— ऐसा कहकर वह नदीमें जा खड़ा हुआ। नदीमें उसने देखा कि बड़ी मछलियां छोटी मछलियोंको खा रही हैं, तब तो उसे बड़ी घिन लगी। 'अरे, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहां मरे बिना छुटकारा नहीं', ऐसा सोचकर वह पानीसे बाहर आया और आग जलायी। उधरसे एक सज्जन आये और बोले— "भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यों ?" "यह संसार अमंगल, है, इसलिए!"— वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया— "तेरा यह गंदा शरीर, यह चरबी यहां जलने लगेगी, तो यहां कितनी बदबू फैलेगी। हम यहां पास ही रहते हैं। तब हम कहां जायेंगे ? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गंध आती है! फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी! कितनी दुर्गंध फैलेगी, इसका भी तो कुछ विचार कर!" वह आदमी परेशान होकर बोला— "इस दुनियामें न जीनेकी सुविधा है और न मरनेकी ही, तो अब करूं क्या ?"

10. तात्पर्य यह कि 'अमंगल-अमंगल'—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे, तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बड़े कर्म सिर पर सवार हो जायेंगे। कर्म स्वरूपतः, बाहरसे छोड़ने पर नहीं छूटते हैं। जो कर्म सहजरूपसे प्रवाह-प्राप्त हैं, उनका विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा, प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अंतमें वह थककर प्रवाहके साथ बह जायेगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मन परका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता जायेगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने-आप झड़ती जायेगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएं लुप्त हो जायेंगी। कर्म छूटेगा ही नहीं। क्रिया लुप्त हो जायेगी।

11. कर्म और क्रिया दोनोंमें अंतर है। मान लें कि कहीं पर खूब हो-हल्ला मचा हुआ है और उसे बंद करना है। एक सिपाही स्वयं जोरसे चिल्लाकर कहता है— "शोर बंद करो।" वहांका शोर बंद करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेकी

तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा और केवल अपनी अंगुली उठाकर इशारा करेगा। इतनेसे ही लोग शांत हो जायेंगे। तीसरे व्यक्तिके केवल वहां उपस्थित होनेमात्रसे ही शांति छा जायेगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया उत्तरोत्तर कम होती गयी, किंतु लोगोंको शांत करनेका काम समानरूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायेगी। कर्म भिन्न है और क्रिया भिन्न। कर्ताको जो अत्यंत इष्ट हो, वह कर्म— यही कर्मकी व्याख्या। कर्मकी प्रथमा और द्वितीया विभक्ति होती है, तो क्रियाके लिए स्वतंत्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रियाओंमें जो अंतर है, उसे समझ लीजिए। क्रोध आने पर कोई बहुत बोलकर और कोई बिलकुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नहीं करता, किंतु कर्म अनंत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो केवल उपस्थिति ही पर्याप्त है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों, तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है और कर्म उलटे बढ़ते जाते हैं। वि[illegible]की यह धारा और आगे ले जायें एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो जाये, तो अंतमें क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनंत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य इस तरह अपने-आप क्रियाशून्यत्व प्राप्त हो जायेगा। परंतु तब अनंत कर्म स्वतः होते रहेंगे।

12. बाह्यरूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नहीं होंगे। निष्कामतापूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राऊनिंगने 'ढोंगी पोप' शीर्षकसे एक कविता लिखी है। एक आदमीने पोपसे कहा— "तुम अपनेको इतना सजाते क्यों हो ? ये चोगे किसलिए ? ये ऊपरी ढोंग क्यों ? यह गंभीर मुद्रा किसलिए ?" उसने उत्तर दिया— "मैं यह सब क्यों करता हूं, सो सुनो। संभव है, यह नाटक, यह नकल करते-करते किसी दिन अनजानमें ही मुझमें श्रद्धाका संचार हो जाये।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे

निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायेगा।

104. साधकके लिए स्वधर्मका खुलासा

13. सारांश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिलकुल छोड़ देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए। इसके साथ ही यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविकरूपसे सामने आ जायें, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे, तो दूसरे असंख्य दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे काटकर सुंदर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक तथा भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होने पर भी स्वाभाविकरूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिए। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

14. और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज प्रवाहसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें कितना ही लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहजरूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंका भार मत उठा लो। जिन कर्मोंको खास तौर पर जोड़-तोड़ करके ही करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह मत करो। जो कर्म सहजप्राप्त हैं, उन्हींके बारेमें फल-त्याग संभव है। यदि मनुष्य इस लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो फिर कैसा फल-त्याग ? उससे तो जीवन सारा बरबाद हो जायेगा। फलकी आशासे ही वह इन परधर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्त पर उस कर्मकी आसक्ति चिपक जायेगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो वह लोभ भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे, तो उसमें भी राजसता और तामसता आ जायेगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, प्रवाहसे प्राप्त स्वधर्म है।

15. स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। इन तीनोंके योगसे स्वधर्म बनता है। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप

क्या है और कौन-सा कर्त्तव्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना ही होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो वह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयंप्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा, परंतु इस जन्ममें तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेंढकीकी कहानी है न ? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायेगी। दूसरेके रूपकी नकल करना ठीक नहीं होता। इसलिए परधर्मको 'भयावह' कहा गया है।

16. फिर स्वधर्मके भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला भाग, दूसरा न बदलनेवाला। मैं आज जो हूं, वह कल नहीं और कल जो हूं वह परसो नहीं। मैं निरंतर बदल रहा हूं। बचपनका स्वधर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवनमें मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मैं समाजकी सेवा करूंगा। प्रौढ़ावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलता रहनेवाला है और कुछ न बदलनेवाला। इन्हींको यदि पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना है, तो हम कहेंगे— 'मनुष्यको वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।' वर्ण-धर्म बदलता नहीं, आश्रम-धर्म बदलता रहता है।

आश्रम-धर्म बदलता है— इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मचारी-पद सार्थक करके मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता हूं। गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थाश्रममें और वानप्रस्थाश्रमसे संन्यासमें जाता हूं। इस तरह आश्रम-धर्म बदलता रहता है तब भी, वर्ण-धर्म बदला नहीं जा सकता। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं छोड़ नहीं सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममें जो 'तुमपन' है, उसे तुम छोड़ नहीं सकते। इसी कल्पना पर वर्ण-धर्मकी योजनाकी गयी है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बड़ी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या ? जैसे बकरीका बकरीपन, गायका गायपन है, वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है ? मैं मानता हूं कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है। लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-

धर्म' का उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक युक्तिके रूपमें किया जाता है, तब उसमें अपवाद अवश्य होगा। ऐसा अपवाद मानना ही पड़ता है। गीताने भी इस अपवादको माना है। सारांश, इन दोनों प्रकारोंके धर्मोंको पहचानकर अवांतर धर्म कितना ही सुंदर और मोहक प्रतीत हो, तो भी उसे टालना चाहिए।

105. फलत्यागका कुल मिलाकर फलितार्थ

17. फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हैं, उससे निम्नलिखित अर्थ निकला—

(1) राजस और तामस कर्मोंका संपूर्ण त्याग।

(2) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहंकार न हो।

(3) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करते हुए केवल फल-त्याग।

(4) सात्त्विक कर्म, जो फल-त्यागपूर्वक करने होते हैं, वे सदोष हों तो भी करना।

(5) सतत फल-त्यागपूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायेगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य इस तरह क्रियामात्र झड़ जायेगी।

(6) क्रिया लुप्त हो जायेगी, लेकिन कर्म— लोकसंग्रहरूपी कर्म— होते ही रहेंगे।

(7) सात्त्विक कर्म भी, जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हों, वे ही करें। जो सहजप्राप्त न हों, वे कितने ही अच्छे लगें, तो भी उन्हें दूर ही रखें। उनका मोह न करें।

(8) सहजप्राप्त स्वधर्म भी फिर दो प्रकारका होता है— बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नहीं बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलते रहना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

18. प्रकृति बहती रहनी चाहिए। निर्झर बहता नहीं रहेगा, तो उससे दुर्गंध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्य पहले कुटुंबको स्वीकार करता है। अपने विकासके लिए वह स्वयंको कुटुंबके बंधनोंमें बांध लेता है। यहां वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है; परन्तु कुटुंबी बनकर वह सदाके लिए उसीमें

जकड़ जायेगा तो विनाश होगा। कुटुंबमें रहना जो पहले धर्मरूप था, वही अधर्मरूप हो जायेगा; क्योंकि अब वह धर्म बंधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको आसक्तिके कारण न छोड़ें, तो भयानक स्थिति उत्पन्न होगी। अच्छी चीजकी भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफड़ोंमें चले जाते हैं, तो सारा जीवन भीतरसे खा डालते हैं। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस जायेंगे, तो स्व-धर्म सड़ने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस और तामसकी दुर्गंध आने लगेगी। अत: कुटुंबरूपी यह बदलनेवाला स्व-धर्म यथासमय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्रधर्मके लिए भी है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आ जाये और केवल अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगें, तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर वस्तु होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायेगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अध:पात होगा।

106. साधनाकी पराकाष्ठा ही सिद्धि

19. सारांश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना हो, तो फलत्यागरूपी चिंतामणिको अपनाओ। वह आपका पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। यह दीपक पास होने पर अपने-आप यह पता चल जायेगा कि कौन-सा काम करें, कौन-सा न करें, और कौन-सा कब बदलें।

20. परंतु अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अंतिम स्थिति है, उस पर साधकको ध्यान रखना चाहिए या नहीं ? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थिति पर दृष्टि रखनी चाहिए, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहेंगे ?

नहीं, यहां भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करना चाहिए। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुंदर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखने पर भी वह हमें मिल जायेगा। जीवनका सबसे बड़ा फल मोक्ष है। उस मोक्ष— उस अकर्मावस्था— का भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायेगी। संन्यास कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि दो बजकर पांच मिनट पर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तेरे जीवनमें किस

तरह विकास होता जायेगा, तुझे इसका पता भी नहीं चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिंता छोड़।

21. भक्त तो ईश्वरसे सदैव यही कहता है— "मेरे लिए यह भक्ति ही पर्याप्त है। वह मोक्ष, वह अंतिम फल, मुझे नहीं चाहिए।" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है— एक फल ही तो है। इस मोक्षरूपी फल पर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। परंतु उससे मोक्ष कहीं चला नहीं जायेगा। कैंची टूट जायेगी और फल अधिक पक्का हो जायेगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ जाओगे। इतनी तन्मयतासे साधना चलने दो कि मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुझे खोजता हुआ तेरे सामने आ खड़ा हो जाये। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रंग जाये। **मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।**— भगवानने पहले ही कहा था कि अकर्म-दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अंतमें कहते हैं— **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**— मैं मोक्षदाता समर्थ हूं। तू मोक्षकी चिंता मत कर। तू तो केवल साधनाकी ही चिंता कर। मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तेरे पास चला आयेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामें ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

22. जहां साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वहीं सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। जिसे घर जाना है, वह यदि वृक्षके नीचे 'घर-घर' का जाप करते बैठेगा, तो घर तो दूर ही रहेगा, उलटा उसे जंगलमें ही रहनेकी नौबत आ जायेगी। घरका स्मरण करते हुए यदि रास्तेमें विश्राम करने लग जाओगे, तो उस अंतिम विश्रामस्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। उसीसे घर एकदम सामने आयेगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्न में, मेरी साधनामें शिथिलता आयेगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायेगा। मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधनारत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति, विश्रांतिकी लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम रखो, तो मोक्ष मिलकर रहेगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता। उसे हल करनेकी जो रीति मुझे आती

है, उसीसे क्रमानुसार उत्तर मिलेगा। वह रीति जहां समाप्त होती है, वहीं उसका उत्तर रखा है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे होगी ? रीतिसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा ? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी ? पानीमें डुबकियां खाते हुए परले पारके मौज-मजेमें ध्यान रहेगा, तो कैसे काम चलेगा ? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लांघो, मोक्ष अपने-आप मिल जायेगा।

107. सिद्ध पुरुषकी तिहरी भूमिका

23. ज्ञानी पुरुषकी अंतिम अवस्थामें सब क्रियाएं लुप्त हो जाती हैं, शून्य रूप हो जाती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अंतिम स्थितिमें क्रिया होगी ही नहीं। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी। अंतिम स्थिति अत्यंत रमणीय और उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिंता नहीं होती। जो भी होगा, वह शुभ और सुंदर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठाकी दशा पर वह खड़ा है। वहां सब कर्म करने पर भी वह कुछ नहीं करेगा। संहार करने पर भी संहार नहीं करेगा। कल्याण करने पर भी कल्याण नहीं करेगा।

24. यह अंतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाका अर्थ है— साधनाकी सहजावस्था। वहां इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हूं। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूंगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है; क्योंकि झूठ क्या है, इसकी तो उसे कल्पना ही नहीं है। असत्यकी कल्पना होने पर सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामें असत्य है ही नहीं। वहां तो सत्य ही है। इसलिए वहां नीति नहीं। निषिद्ध वस्तु वहां फटकती ही नहीं। जो नहीं सुनना चाहिए वह कानके अंदर जाता ही नहीं, जो वस्तु नहीं देखनी चाहिए वह आंखें देखती ही नहीं, जो होना चाहिए वही हाथोंसे होता है, उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिसे टालना चाहिए उसे टालना नहीं पड़ता, वह अपने-आप ही टल जाता है— ऐसी यह नीतिशून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा है, इसे साधनाकी सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, इस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे

अच्छा सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधनाकी निःसत्त्वता' भी कह सकते हैं।

25. इस दशाका किस प्रकार वर्णन करें ? जिस तरह ग्रहणके पहले वेध लगता है, उसी तरह शरीरांत हो जाने पर आनेवाली मोक्षदशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पड़ने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्षस्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करनेमें वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नहीं करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाये ? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सभी क्रियाओंके क्षय हो जाने पर भी संपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें, यह समझमें नहीं आता।

26. इस अंतिम अवस्थामें तीन भाव रहते हैं— एक है वामदेवकी दशा। उनका वह प्रसिद्ध उद्गार है न— "इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हूं।" ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नहीं सकती। भावावस्था क्रियावस्था नहीं है। भावावस्थाका अर्थ है— भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। अल्प मात्रामें इस भावावस्थाका अनुभव हम सबको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणोंसे गुणी होती है। उसके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होती है। मांकी यह भावावस्था संतान तक सीमित है। संतानके दोषोंको खुद न करके भी वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे संसारके दोष अपने मान लेता है। वह त्रिभुवनके पापसे पापी और पुण्यसे पुण्यवान बनता है और ऐसा होने पर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्यसे वह लेशमात्र भी स्पर्शित नहीं होता।

27. रुद्र-सूक्तमें ऋषि कहते हैं— **यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे**— मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूं दे। इस तरह मांगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बड़ा होगा ? लेकिन वह मांगनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नहीं है। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मैं 'वैदिक विश्वात्मभाव' कहता हूं। वेदोंमें इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखायी देता है।

28. गुजराती संत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते हैं— **बापजी पाप में कवण कीधां हशे, नाम लेतां तारूं निद्रा आवे**— 'हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौन-से पाप किये हैं, जो कीर्तनके समय मुझे नींद आती है!' नींद क्या नरसी मेहताको आ रही थी ? नींद तो श्रोताओंको आ रही थी। परंतु श्रोताओंसे एकरूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे हैं। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी ऐसी यह भावावस्था होती है। इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए आपको दिखायी देंगे। वह स्वयं भी यही कहेगा। वह ऋषि कहता है न— "न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हूं और करूंगा।" यह भावावस्था प्राप्त होने पर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है। वह पार्थिवताके परे चला जाता है।

29. इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावत: क्या करेगा ? वह जो कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य-देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इंद्रियां सात्त्विक बन गयी हैं, जिससे उसकी सारी क्रियाएं सात्त्विक ही होंगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखेंगे, तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखायी देगी। विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे, तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य वह करता है और इतने पर भी वह अलिप्त रहता है; क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेंक दिया होता है। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकने पर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

30. भावावस्था और क्रियावस्थाके अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी ज्ञानी पुरुषकी है और वह है, ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है, न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको सलाई लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नहीं होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नहीं होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्षदशामें— साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें— ये तीन स्थितियां संभव हैं।

31. यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो ? हम जो-जो भी कर्म करते हैं, उनका कर्तृत्व अपने सिर पर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा

मनन करो कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूं, कर्मका कर्तृत्व मुझ पर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। किंतु इसीसे संपूर्ण कर्तृत्व चला जायेगा, सो नहीं। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायेगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अति तुच्छ हूं, उसके हाथका खिलौना-कठपुतली हूं, वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है, वह शरीरजात है; मेरा उससे स्पर्श तक नहीं। ये सब क्रियाएं इस शवकी हैं, परन्तु मैं शव नहीं हूं। 'मैं शव नहीं, शिव हूं' ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हों। ऐसा हो जाने पर फिर मानो देहसे कोई संबंध ही नहीं है, ऐसी ज्ञानीकी अवस्था प्राप्त हो जायेगी। उस अवस्थामें फिर ऊपर बतायी तीन अवस्थाएं होंगी। एक उसकी क्रियावस्था, जिसमें उसके द्वारा अत्यंत निर्मल और आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमें त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूं, ऐसा उसे अनुभव होगा, परंतु उनका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं होगा; और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास नहीं रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों अवस्थाओंके द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

108. "तुही.....तुही.....तुही"

32. इतना सब कहनेके बाद भगवान अर्जुनसे कहते हैं— "अर्जुन, मैंने तुझे यह जो सब कहा, वह सब ध्यानसे सुना है न ? अब पूर्ण विचार करके जो तुझे उचित लगे, वह कर।" इस तरह भगवानने बड़ी उदारतासे अर्जुनको स्वतंत्रता दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। परंतु भगवानको फिर दया आ गयी। दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होंने फिर वापस ले लिया। कहा— "अर्जुन, तू अपनी इच्छा, अपनी साधना, सबकुछ छोड़ दे और मेरी शरणमें आ जा।" इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा देकर भगवानने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है। इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र इच्छा ही न उठने दो। अपनी इच्छा नहीं, उसीकी इच्छा चलने दो।" मुझे स्वतंत्ररूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतंत्रता मुझे नहीं चाहिए। मैं नहीं, सबकुछ तू ही है, ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशामें— 'में में में' करती है यानी 'मैं मैं मैं'

कहती है, लेकिन मरने पर उसकी तांत बनाकर पींजनमें लगायी जाती है, तब दादू कहता है— तुही, तुही, तुही— 'तू ही, तू ही, तू ही, ' ऐसा वह कहती है। अब तो सब ''तू ही, तू ही, तू ही!''

रविवार 19-6-32

1. साम्यसूत्र-वृत्तिः

['गीता-प्रवचन' को विनोबाजीने नित्य पठनीय कहा है। जैसे कि उनकी अध्ययनकी पद्धति रही है, उन्होंने पूरे ग्रंथको 108 अधिकरणोंमें बांटा है। और प्रत्येक अधिकरणको एक-एक सूत्रमें गूंथ लिया है। उन 108 सूत्रोंको उन्होंने 'साम्यसूत्र' कहा। अलावा, पूरे ग्रंथके 432 परिच्छेदोंको भी सूत्रमय स्वरूप दिया है। तो कुल 108+432=540 सूत्र हुए। इन पूरे सूत्रोंको उन्होंने 'साम्यसूत्र-वृत्तिः।' (वृत्ति=विवरण) कहा है। इस प्रकार गीता-प्रवचनका संपूर्ण सार सूत्रमय भाषामें गूंथा गया है। उसके कारण ग्रंथके विषयको थोड़ेमें आत्मसात् करना सुलभ हो गया है। — संपादक]

अध्याय 1

(1) अभिधेयं परम-साम्यम् — 5

1 अथ गीताशासनम्
2 दीपस्तंभवत्
3 रामायण-भारतयोर् वैशिष्ट्यम्
4 व्यासमुनेर् मननसारः
5 कृष्णत्रयी

(2) संबंधेन — 5

6 अर्जुनस्य भूमिका
7 वीरवृत्तिः
8 अहिंसकवत् भाषते एव
9 मोहांध-न्यायाधीशवत्
10 प्रज्ञावादः

(3) प्रयोजनवत्त्वात् — 5

11 अर्जुनस्य संन्यासो न स्वधर्मः
12 परधर्मः श्रेष्ठ इति न ग्राह्यः
13 सुकर इति न स्वीकार्यः
14 भगवान् भक्त-सापेक्षः
15 मोहमोचनमेव प्रयोजनम्

(4) ऋजुबुद्धेस्तु — 1

16 ऋजुबुद्धिरर्जुनः

अध्याय 2

(5) छंदसि बहुलम् — 3

1 अर्जुनं निमित्तीकृत्य
2 नित्यनूतन-परिभाषा
3 'द' कारार्थवत्

(6) देहेन स्वधर्मः — 2

4 स्वधर्मः सहजः सुकरः
5 देहबुद्ध्या तु दुष्करो भवति

(7) मुक्तात्मा — 7

6 तत्त्वज्ञानं प्रथममावश्यकम्
7 नाहं देहः
8 देहो वस्त्रवत्
9 मरणशब्दमपि न सहते पामरः
10 आत्म-विस्तारः कर्तव्यः
11 आत्मा मोचनोत्सुकः

अध्याय 6

अध्याय 18



जो बाबा का दर्शन करेगा
उसको क्या दिखेगा?
बाह्य आकृति से अधिक
कुछ नहीं दिखेगा।
परन्तु बाबा का दर्शन बाबा के
'गीता प्रवचन' में होता है।
"गीता प्रवचन मेरी
जीवन की गाथा है
और वही मेरा संदेश है।"

\- विनोबा

